॥ ॐ नमः सद्गुरुदेवाय ॥

अनछुये प्रश्न

लेखक

स्वामी श्री अड़गड़ानन्द
श्री परमहंस आश्रम शक्तेषगढ़, चुनार-मिर्जापुर (उ.प्र.)

अनछुये प्रश्न
स्वामी श्री अड़गड़ानन्द

।। ॐ नमः सद्गुरुदेवाय।।

अनछुए प्रश्न

लेखक :-

परमपूज्य श्री परमहंस जी महाराज का कृपा-प्रसाद

स्वामी श्री अड़गड़ानन्दजी

श्री परमहंस आश्रम

शक्तेषगढ़, चुनार-मिर्जापुर (उ० प्र०)

फोन-(०५४४३) २३८०४०

प्रकाशक :

श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट

न्यू अपोलो एस्टेट, गाला नं 5, मोगरा लेन (रेलवे सबवे के पास)

अंधेरी (पूर्व), मुम्बई – 400069

अनन्तश्री विभूषित,
योगिराज, युग पितामह

परमपूज्य स्वामी श्री परमानन्दजी

श्री परमहंस आश्रम अनुसुइया
(चित्रकूट)
के परम पावन चरणों में सादर समर्पित
अन्तस्प्रेरणा

गुरु-वन्दना

।। ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान् की जय ।।

जय सद्गुरुदेवं, परमानन्दं, अमर शरीरं अविकारी।।
निर्गुण निर्मूलं, धरि स्थूलं, काटन शूलं भवभारी।।

सूरत निज सोहं, कलिमल खोहं, जनमन मोहन छविभारी।।
अमरापुर वासी, सब सुख राशी, सदा एकरस निर्विकारी।।

अनुभव गम्भीरा, मति के धीरा, अलख फकीरा अवतारी।।
योगी अद्वैष्टा, त्रिकाल द्रष्टा, केवल पद आनन्दकारी।।

चित्रकूटहिं आयो, अद्वैत लखायो, अनुसुइया आसन मारी।।
श्री परमहंस स्वामी, अन्तर्यामी, हैं बड़नामी संसारी।।

हंसन हितकारी, जग पगुधारी, गर्व प्रहारी उपकारी।।
सत्-पंथ चलायो, भरम मिटायो, रूप लखायो करतारी।।

यह शिष्य है तेरो, करत निहोरो, मोपर हेरो प्रणधारी।।
जय सद्गुरु.........भारी।।

।। ॐ ।।

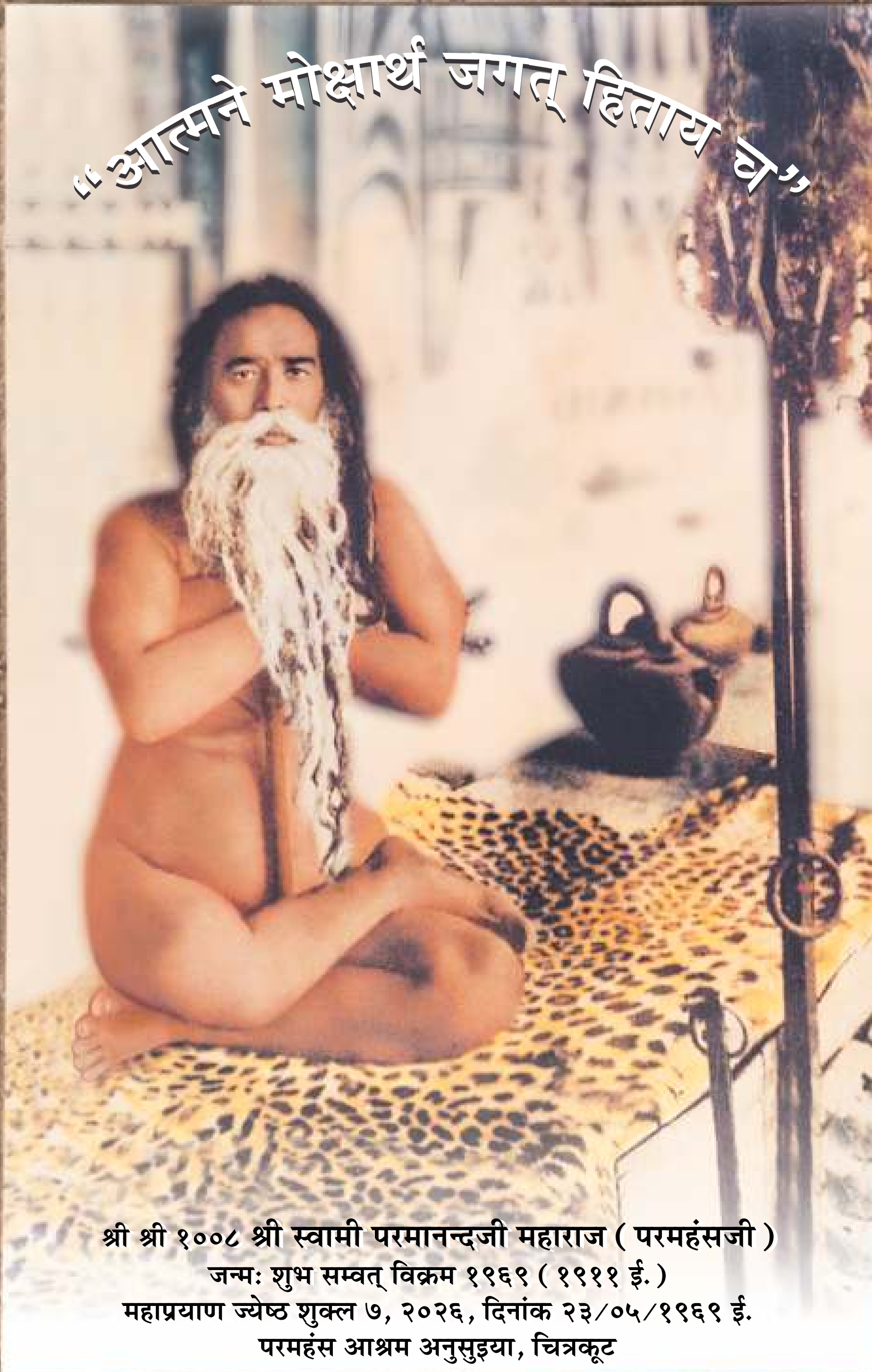

श्री श्री १००८ श्री स्वामी परमानन्दजी महाराज (परमहंसजी)

जन्मः शुभ सम्वत् विक्रम १९६९ (१९११ ई.)

महाप्रयाण ज्येष्ठ शुक्ल ७, २०२६, दिनांक २३/०५/१९६९ ई.

परमहंस आश्रम अनुसुइया, चित्रकूट

श्री स्वामी अड़गड़ानन्द जी महाराज

विषय-सूची

क्रमांक	विषय	पृष्ठांक
१.	भगवान् श्रीराम का इतिहास	१
२.	सीता-परित्याग	५
३.	वर्ण	१३
४.	शम्बूक	२५
५.	सरस्वती पूजन	३४
६.	भगवान् को दाढ़ी क्यों नहीं?	४१
७.	विश्वकर्मा पूजा	४४
८.	मूर्तिपूजा वैध या अवैध	५७
९.	ध्यान	६६
१०.	हठ, चक्र-भेदन और योग	८०
११.	रामकथा के आलोक में द्रविड़ और आर्य	९८
१२.	महाभारत की ऐतिहासिकता	११२
१३.	श्रीमद्भगवद्गीता की सर्वग्राह्य टीका का औचित्य	१२७
१४.	क्या हिन्दू-धर्म किसी जीवन-शैली का नाम है?	१३१
१५.	हिन्दुत्व क्या है?	१३५

भूमिका

प्राप्तिवाले महापुरुषों की वाणी का अर्थ पारलौकिक होता है। कोई कितना ही विज्ञ क्यों न हो परन्तु सांसारिक उपलब्धियों के बल पर उसे नहीं जान सकता; क्योंकि चित्त के निरोध के साथ मिलनेवाला ईश्वरीय सन्देश लिखने में नहीं आता। वह वाणी का विषय नहीं है, अनिर्वचनीय है। उसे जानने की विधि संकेत मात्र है जो सुनने में अटपटा लगता है, विरोधाभास प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए, रामचरित मानस में है-

उमा राम गुन गूढ़, पंडित मुनि पावहिं बिरति।
पावहिं मोह बिमूढ़, जे हरि बिमुख न धर्म रति।।

अर्थात् राम का गुन गूढ़ है। पण्डित अर्थात् जो इसके रहस्य के ज्ञाता हैं, मुनि - जिसकी मनसहित इन्द्रियाँ मौन हो चुकी हैं वे तो वैराग्य को प्राप्त होते हैं, परमात्मा की सत्यता को जान लेते हैं, संसार की असत्यता को त्याग देते हैं; किन्तु जो विशेष रूप से मूढ़ हैं, हरि के पद से विमुख और धर्म में अनुरक्त नहीं हैं- ऐसे लोग उसी चरित्र से मोह अर्थात् अज्ञान को प्राप्त होते हैं। लेखन एक किन्तु पात्रों की पात्रता दो प्रकार की- एक प्रकाश की ओर, दूसरी अन्धकार की ओर, वे वैसा ही अर्थ ग्रहण करते हैं। इसीलिए गोस्वामी जी ने बताया कि मानस समझने की क्षमता किनमें है-

यह शुभ चरित जान पै सोई। कृपा राम की जापर होई।।

यह रहस्य वही जान पाते हैं जिनके ऊपर राम की प्रत्यक्ष कृपा होती है।

जानहिं यह चरित्र मुनि ग्यानी। जिन्ह रघुबीर चरन रति मानी।।

मानस क्या कहता है, इसे तो केवल मुनि और ज्ञानी ही जानते हैं। जिनका मन उस अपौरुषेय परमतत्व परमात्मा में अनुरक्त है, जिनकी उन प्रभु में प्रीति है वही इसे समझ पाते हैं। अतः बौद्धिक विचार-विमर्श एवं गोष्ठियाँ करने से रामायण समझ में नहीं आती। कदाचित् कोई प्रश्न किसी भक्त के अन्तर्मन में उद्वेलित होता है तो किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष से उसका परामर्श कर लेना चाहिए। इस सन्दर्भ में सबका स्वागत है।

पूज्य गुरुदेव भगवान् कहते थे कि अच्छे अधिकारी के यही लक्षण हैं कि उसके हृदय में प्रश्न उभरते रहें; किन्तु प्रश्न वहीं पूछना चाहिए, जहाँ उसका समाधान हुआ करता है। जंगल में जाकर कोई वायुयान का पासपोर्ट चाहे तो वहाँ नहीं मिलेगा, वहाँ तो वही घास-पात ही मिलेगा। अतः प्रश्नों के समाधान-हेतु किंचित् प्रयास करें - वह है श्रद्धा और संतों की संगति-

जे श्रद्धा सम्बल रहित, नहिं सन्तन्ह कर साथ।
तिन्ह कहुँ मानस अगम अति, जिन्हहि न प्रिय रघुनाथ।।

फिर वे सन्त महापुरुष ही हृदय से बताने लगेंगे और आप सन्तुष्ट भी हो जायेंगे।

—स्वामी अड़गड़ानन्द

भगवान् श्रीराम का इतिहास

(ब्रह्मलीन स्वामी श्री विमलानन्द आश्रम, विजयपुर, मिर्जापुर के वार्षिक समारोह में स्वामी श्री अड़गड़ानन्दजी महाराज द्वारा दिनांक २८-१२-१९९८ को उलझे प्रश्न का रहस्योद्घाटन।)

बन्धुओ !

आपकी ओर से कतिपय प्रश्न आये हैं। एक प्रश्न एक महात्मा जी का है। वह सोलह वर्ष विदेश में रहकर आये हैं। वहाँ के लोग उनसे प्रश्न करते हैं कि राम का कुल इतिहास बावन वर्ष का ही तो है। सत्ताईस वर्ष के थे तब उनका विवाह हुआ। घर लौटे तो उनका वनवास हो गया। चौदह वर्ष वे वन में रहे। सत्ताईस और चौदह मिलकर इकतालीस हुआ। लंका से लौटते ही सीता अयोध्या की जनता में चर्चा का विषय बन गयीं। राम ने उन्हें वन भेज दिया, जहाँ लव-कुश का जन्म हुआ। लव-कुश ग्यारह वर्ष के थे कि राम के अश्वमेध का घोड़ा पकड़ लिया। अश्वमेध राम का अन्तिम कृत्य था। इकतालीस और ग्यारह कुल बावन वर्ष ही तो हुए। जैसा आप लोग कहते हैं- राम ने ग्यारह हजार वर्षों तक राज्य किया, वह इतिहास कहाँ गया? वाल्मीकीय 'रामायण' के अनुसार उनका इतिहास तो मात्र पचास-बावन वर्ष का है। लोग कहते हैं कि राम ने लंका में बहुत से निशाचरों को मार डाला- तो क्या हो गया! हिटलर ने भी तो साठ लाख यहूदियों को मौत के घाट उतार दिया था। इतने से तो राम की कोई विशेषता समझ में नहीं आती।

एडोल्फ हिटलर ने इतने लोगों को मारा तो उसका अस्तित्व भी नहीं रह गया; किन्तु राम की उपलब्धियों की एक लम्बी शृंखला है। रावण-वध के पश्चात् राम ने कभी अस्त्र नहीं उठाया। आरम्भ में कहीं साधारण-सी आवश्यकता भी पड़ी, तो कहीं लक्ष्मण को भेज दिया, कहीं भरत या शत्रुघ्न को। संसार चाहता है कि सामान्य जनजीवन को सम्पन्न बना दें लेकिन आज तक ऐसा कोई कर न सका। परमाणुसम्पन्न देश चिन्तित हैं कि कोई अन्य देश परमाणु विखण्डन की प्रक्रिया न सीख ले अन्यथा उनकी सुरक्षा-व्यवस्था खतरे में पड़ जायेगी। आज समृद्ध देशों में आत्महत्याएँ अधिक हो रही हैं, वृद्धावस्था वहाँ अभिशाप बन गयी है। दम्पतियों ने बच्चे तो अनेक पैदा किये; किन्तु वृद्धावस्था में सहायता के लिये कोई नहीं। अस्पताल में बुजुर्ग की मौत होती है, वहाँ से फोन आता है कि तुम्हारे पिताजी अब नहीं रहे, तो बच्चे दो मिनट का मौन धारण कर लेते हैं। वहीं से दो मिनट मौन!- यह तो है वहाँ की संस्कृति।

दुःख अपनी जगह है। जीवन की अन्तिम साँसें गिन रहा है अस्पताल में, अपने स्वजनों से अलग-थलग, आस-पास अपना कोई नहीं! दुःख नहीं तो क्या है?

भगवान् राम के राज्य में किसी प्रकार का दुःख नहीं था। संसार के लोग जो सुख देना चाहते हैं किन्तु दे नहीं पाये, वह सब राम के राज्य में था। लाखों वर्षों से जो आततायी समाज को दुःख दे रहा था, राम ने पहले तो उसका समूल अन्त किया, तत्पश्चात् रावण के जो अनुचर-अनुयायी बच रहे थे, उनका हृदय-परिवर्तन किया और संसार में शान्ति की एक ऐसी लहर पैदा कर दी कि **'राम राज बैठें त्रैलोका। हरषित भये गये सब सोका।।'**- केवल अयोध्या ही नहीं, तीनों लोकों में हर्ष छा गया, शोक-सन्ताप सदा-सदा के लिए मिट गये। **'अल्पमृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुन्दर सब बिरुज सरीरा।।'** स्वास्थ्य विभाग उत्तम! सबके शरीर रोगमुक्त! **'बरनाश्रम निज निज धरम, निरत वेदपथ लोग।'** चारों वर्णों के लोग अपनी अवस्था के अनुसार आचरण में निरत अर्थात् अनासक्त भाव से तल्लीन! **'वेदपथ'**- शूद्र थे अवश्य लेकिन वेद के अनुसार चलते थे, **'चलहिं सदा'**- निरन्तर चलते थे, **'पावहिं सुखहि'**- सुख प्राप्त करते थे। **'नहिं भय सोक न रोग।।'** सुख की परिभाषा क्या है? भय नहीं, शोक नहीं, रोग नहीं! प्रियजनों के वियोग में शोक होता है। राम के राज्य में वह भी नहीं।

धन-धान्य की समृद्धि कितनी थी? **'नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना।।'** राम के राज्य में कोई दरिद्र, दुःखी या दीन नहीं था। शूद्र थे अवश्य; किन्तु यह मनुस्मृति या पाराशर स्मृति वाला शूद्र नहीं कि ठीकरों में खाओ, पेड़ के नीचे रहो, भू-सम्पत्ति न रखो। दुःखी, दीन, असहाय कोई नहीं था। सभी प्रबुद्ध थे। लक्षणहीन कोई नहीं था। **'सब गुनग्य पण्डित सब ज्ञानी। सब कृतग्य नहिं कपट सयानी।।'** सभी गुणवान् थे। सब के सब पण्डित! शूद्र भी पण्डित! ब्राह्मण ही पढ़े-पढ़ावे, शूद्रादि दूसरा कोई पढ़े तो नरक में जाये- ऐसा नहीं था। **'सब कृतग्य'**- किसी ने छोटा-सा उपकार किया तो प्रत्युपकार करने को तत्पर! कपट, दम्भ किसी में नहीं था।

'ससि सम्पन्न सदा रह धरनी। त्रेताँ भइ कृतजुग कै करनी।।' मौर्य-बन्धुओं के यहाँ देखते हैं कि प्रत्येक मौसम में साग, सब्जी, मूली, धनिया, पुदीना, पालक इत्यादि बारहो महीने हरा-भरा दिखाई देता है; किन्तु राम के राज्य में सर्वत्र पृथ्वी लहलहाती रहती थी। **'बयरु न कर काहू सन न कोई। राम प्रताप विषमता खोई।।'** कोई किसी से बैर नहीं करता था। बैरभाव तो तब होता है जब किसी

को दूसरे की अपेक्षा अधिक मिले। रामराज्य में बैर का कारण विषमता ही समाप्त थी। **'बैठे बजाज सराफ बनिक अनेक मनहुँ कुबेर ते।'** एक-एक बनिया मानो कुबेर ही बैठा था। वस्त्र बेचने वाला बजाज, सोना-चाँदी, हीरा-जवाहरात और रुपयों का लेन-देन करनेवाले सर्राफ तथा अन्य अनेक वस्तुओं के व्यापारी मानो अनेक कुबेर बैठे हों। धन-धान्य के देवता कुबेर से यहाँ आशय है कि जिनके यहाँ वस्तु का कभी अभाव न हो, अक्षुण्ण सम्पत्तिवान्। और वस्तु कैसे मिलती थी? **'वस्तु बिनु गथ पाइए'-** वस्तुएँ बिना मूल्य के मिलती थीं। किसी को कन्या के विवाह में आभूषणों की आवश्यकता होती तो सर्राफ कहते- 'ले जाओ टोकरी-दो टोकरी।' जब दूकान हमारी है, हर वस्तु सदैव सुलभ है तो अकारण संग्रह कर घर का कोना क्यों खराब करें? जितनी आवश्यकता प्रतीत हुई, ले लिया शेष पुनः उन्हीं के संरक्षण में सौंप दिया। व्यापारी तो वस्तुओं के संरक्षक मात्र थे।

राम के राज्य में विषमता नहीं थी, समानता थी। शूद्र थे, वैश्य थे, चारों वर्ण थे; किन्तु खान-पान, रहन-सहन, शिक्षा-ज्ञान में समानता, धन-धान्य में समानता, कृषि-कार्य में समानता, उद्योग-व्यापार में समानता और **'सकल परम गति के अधिकारी।'-** राम के साथ सभी उनके धाम भी गये। लोक में समृद्ध जीवन-लाभ और परमश्रेय की प्राप्ति- दोनों व्यवस्था राम के राज्य में सबके लिए एक-जैसी थी।

सरयू में एक घाट था- राजघाट। **'राजघाट सब विधि सुन्दर बर। मज्जहिं तहाँ बरन चारिउ नर।।'** बाल्यकाल में हमने हरिजनों को कुएँ से दूर पंक्तिबद्ध बैठे हुए देखा है। उच्चवर्ण के समृद्ध लोग कुएँ पर स्नान-हेतु आते, तो कोई कृपा कर उन हरिजनों के घड़ों में पानी डाल देता। स्नान के लिए नहीं, मात्र पीने के लिए। हिन्दू ही थे वे सब; किन्तु कुएँ पर नहीं चढ़ सकते थे। अभी चार-पाँच वर्ष पूर्व की घटना है। उन दिनों हम जगतानन्द आश्रम में रहते थे। समीपस्थ बरैनी गाँव के गुदरू दद्दा, अस्सी साल के बुजुर्ग (अब दिवंगत हो गये हैं।) गंगा-स्नान कर तमतमाते, बड़बड़ाते हुए आश्रम में आये। हमने पूछा, ''दद्दा! कुछ घटना घट गयी क्या?'' वह बोले, ''पूछो मत महाराज! गंगा में जहाँ मैं स्नान कर रहा था, देखा एक चमार भी स्नान कर रहा था, जिसके पाँव से छूकर जल मेरी ओर आ रहा था। मैं उससे ऊपर प्रवाह की ओर बढ़ गया, उसने भी अपना कपड़ा उठाया और हमसे भी आगे पश्चिम की ओर निकल गया। हम पुनः आगे बढ़े, तो उसने भी बढ़ने का उपक्रम किया। तब हमने फटकारा, डाँटा और खूब गाली दी। महाराज! लगता है उसे

किसी ने उकसाया था।'' लेकिन राम के राज्य में **'राजघाट सब विधि सुन्दर बर। मज्जहिं तहाँ बरन चारिउ नर।।'** रामसमेत सभी एक ही घाट पर अवगाहन करते थे। यदि राजघाट में राजपरिवार किंवा सवर्ण ही स्नान करते तो विषमता हो जाती; किन्तु विषमता वहाँ थी ही नहीं।

इस प्रकार अपने सुदीर्घ शासनकाल में भगवान् राम ने वह कर दिखाया जो उनके पूर्व किसी ने भी नहीं किया था। किसी ने भी वैसी व्यापक शान्ति, समृद्धि, लोक-लाभ और सबको परमगति नहीं प्रदान की और न उनके पश्चात् भी किसी का वैसा इतिहास मिलता है। आजकल लोग इतिहास का अर्थ युद्ध और नरसंहार से लगाते हैं। जिस शान्ति के लिए लोग आज क्रान्ति करते हैं, युद्ध करते हैं, आन्दोलन करते हैं, वही शान्ति भगवान् राम ने अपने जीवन के इन ग्यारह हजार वर्षों में प्रदान कर दी, जो आज भी समग्र मानवता के लिए आदर्श बना हुआ है।

।। ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान् की जय।।

सीता–परित्याग

(एनी बेसेन्ट कालेज, प्रयाग, इलाहाबाद की विशाल जनसभा में पूज्य महाराज जी द्वारा दिनांक २४-१-२००० ई. को सीता–परित्याग के औचित्य का निदर्शन।)

बन्धुओ!

एक प्रसिद्ध राजनेता राम को इसलिए दोष देते हैं कि उन्होंने गर्भवती सीता का क्यों परित्याग किया? ये प्रश्न संस्कृति के शत्रु हैं। मान्य नेता स्त्रियों के ही पक्षधर हैं तो उन्हें कुरान का भी अवलोकन करना चाहिए, जहाँ लिखा है कि यदि पुरुष को पत्नी नहीं पसन्द है तो तीन बार 'तलाक! तलाक! तलाक!' मौखिक कह दे, मात्र इतने से ही वह अपने औरस बच्चों और सम्पत्ति से वंचित कर दी जाती है। राम तो लाखों वर्ष पूर्व हो गये, न आज सीता ही है; किन्तु यह काण्ड आपकी आँखों के सामने है। नेताजी तरस खाएँ। माताएँ-बहनें अपने ही देश की विशुद्ध नागरिक हैं, इन्हें मान दें। कुर्सी के लिए लड़ें, गौरव की बात है; किन्तु धर्मशास्त्रों को न छुएँ क्योंकि शास्त्र कोई विरला महापुरुष जानता है और कोई विरला अधिकारी ही उनके संरक्षण में समझता है। आपके आक्रोश-शमन का प्रयास हम एक कथानक के माध्यम से करना चाहेंगे।

जब रावण युद्धभूमि में आहत होकर गिर पड़ा, तब राम ने लक्ष्मण से कहा, ''यह महान् राजनीतिज्ञ हैं, इनसे तुम राजनीति की शिक्षा ले लो।'' लक्ष्मण ने कहा, ''यह कैसा राजनीतिज्ञ!'' राम ने समझाया, ''नहीं लक्ष्मण! रावण बड़ा सूक्ष्म राजनीतिज्ञ हैं, ऐसा नीतिज्ञ आज तक हुआ ही नहीं। अतएव इनसे शिक्षा ग्रहण करो।''

लक्ष्मण रावण से शिक्षा लेना नहीं चाहते थे। उनकी दृष्टि में रावण आततायी था, माता सीता का अपहरण किया था उसने; फिर भी आदेश के अनुपालन में लक्ष्मण अनमने भाव से रावण के पास गये। उसके शिर की ओर खड़े होकर उन्होंने कहा, ''राजनीतिज्ञ सम्राट्! मैं राम का अनुज लक्ष्मण आपसे राजनीति की शिक्षा लेना चाहता हूँ।'' रावण ने आँखें ही नहीं खोलीं।

लक्ष्मण लौट आये। उन्होंने बताया, ''भैया! उसके मुख में मक्खियाँ आ-जा रही हैं, उसे होश भी है कि राजनीति की शिक्षा देगा। उसकी श्वास रुक-रुककर चल रही है, चेतना विलुप्त हो चुकी है।'' राम ने पूछा, ''तुम खड़े कहाँ थे?'' लक्ष्मण ने कहा, ''उसके शिर की ओर!'' राम ने कहा, ''शिक्षा गुरु के चरणों में बैठकर ली

जाती है। तुम्हें उसके चरणों में प्रणिपात कर अभ्यर्थना करनी चाहिए।'' लक्ष्मण सादर चरणों में प्रणाम कर बोले, ''महान् राजनीतिज्ञ सम्राट्! मैं लक्ष्मण आपसे राजनीति की शिक्षा लेना चाहता हूँ।''

रावण झटके से उठा, तरकस और धनुष लक्ष्मण से छीन लिया। लक्ष्मण कुछ सोचते, इसके पहले ही उसने शरसंधान कर लिया। गले का निशाना साधते हुए बोला, ''राम के भाई हो, इसीलिए जीवित छोड़ रहा हूँ। पहली राजनीति तो यह है कि शत्रु मरणासन्न हो अथवा मर ही क्यों न गया हो, उसके समीप सावधान मुद्रा में ही जाना चाहिए।'' लक्ष्मण स्तब्ध रह गये। वह सोच रहे थे कि अब तो इसका अन्तिम क्षण है, मक्खियाँ आ-जा रही हैं किन्तु यह तो ज्यों-का-त्यों है। संयत होकर लक्ष्मण ने कहा, ''राजन्! आपने एक स्त्री के लिए अपने समग्र कुल का मूलोच्छेद करा लिया, यह कौन-सी राजनीति है? ऐसी मूर्खता आपने क्यों की?''

रावण मुस्कराकर बोला, ''लक्ष्मण! मेरे कुल का मूलोच्छेदन कोई नहीं कर सकता। मेरा वंश अक्षय है। हमने अपने वंश की सुरक्षा के लिए पहले ही विभीषण को राम की शरण में भेज दिया था।'' लक्ष्मण ने कहा, ''आपकी बात हम सच मान भी लेते; किन्तु क्या आपने विभीषण को लात नहीं मारी थी? उसके ऊपर मरणान्तक शक्ति का प्रहार क्यों किया?'' रावण ने कहा, ''लात न मारते तो हमारी पोल ही खुल जाती। तुम लोग उसका विश्वास कैसे करते? शक्ति का प्रहार तो यह परखने के लिए किया था कि राम हमारे वंश की रक्षा कर पायेंगे या नहीं। उस प्रहार से विभीषण को बचाने के लिए जब राम ने स्वयं अपना सीना अड़ा दिया तब मुझे विश्वास हो गया कि अब मेरा वंश सुरक्षित है। लक्ष्मण! तुमने ध्यान नहीं दिया कि उसी घटना के पश्चात् मेरे रणकौशल में परिवर्तन आ गया था। मैं पूरे वेग से युद्ध करने लगा था।''

लक्ष्मण ने कहा, ''सन्देह तो हमलोगों को भी हुआ था कि कदाचित् आप मरेंगे ही नहीं।'' रावण ने कहा, ''मैं निश्चिन्त हो गया था इसलिए धुआँधार युद्ध करने लगा। आजन्म हमने पाप किया, अनुचरों तथा वंशभर से पाप कराया। पाप की सीमा हमलोगों ने तोड़ दी। यदि हम भजन करना चाहते तो अनेक जन्मों में भी मुक्ति सम्भव नहीं थी। इसलिए जब भाई खर-दूषण का वध हुआ तभी मेरे मन में योजना बन गयी कि कदाचित् यह भगवान् ही हैं, क्यों न सबको परमधाम का अधिकारी बना दूँ इसलिए मैंने सीता का हरण किया, इसलिए मैंने धमकियाँ दीं कि तुम लोग युद्ध के लिए आओ। मैं अपने मन्तव्य में सफल रहा। लक्ष्मण! जब तुम परमधाम में आओगे तो मैं अपने वंशसमेत तुम्हें वहाँ मिलूँगा। राम तो अयोध्या की प्रजा लेकर

वहाँ बाद में पहुँचेंगे, हम सब पहले ही वहाँ विराजमान रहेंगे। लक्ष्मण! हमने लोक में समृद्ध जीवन भोगा, दुनिया की छाती पर पाँव रखकर चले। अब मैं वहाँ जा रहा हूँ जहाँ तपस्वी मुनि लोग जाते हैं, जहाँ तुमलोग रहोगे, जहाँ राम का धाम है।''

चकित लक्ष्मण ने लौटकर कहा- ''भैया! उसने तो अपनी गोट लाल कर ली। उसने लड़ाई लड़ी ही नहीं। हम सोचते थे कि वह खल है, दुष्ट है, माता सीता को उसने चुराया है; किन्तु उसने तो चोरी ही नहीं की, वह तो थी उसकी राजनीति! वह तो अपने वंश की सुरक्षा और मुक्ति में लगा था।''

राम ऐसे सूक्ष्म राजनीति के ज्ञाता थे। उनके जीवनकाल में महर्षि विश्वामित्र ने अस्त्र-शस्त्रों का न केवल संचालन सिखाया अपितु अपना सारा दिव्यास्त्र भण्डार भी राम को अर्पित कर दिया था। महर्षि अगस्त्य ने धनुष और तलवारें दीं, दिव्य तरकश दिया। महर्षि अगस्त्य के बाण से ही रावण का संहार हुआ। वाल्मीकीय रामायण के अनुसार सुतीक्ष्ण आश्रम में राम ने शस्त्र धारण किया। अस्त्र-शस्त्र हर महापुरुष के पास थे। वशिष्ठ के पास जो कुछ भी था राम को दिया; किन्तु इन सबसे बड़ा शस्त्रास्त्र संग्रह महर्षि वाल्मीकि के पास था। इनमें उनकी जन्मजात अभिरुचि थी। बड़ी-बड़ी फौजें आयीं किन्तु रत्नाकर को कोई परास्त नहीं कर सका था। महापुरुष सप्तर्षि पहुँचे। रत्नाकर ने दस्युवृत्ति छोड़ दी। भजन की नियत विधि के अनुपालन से उसका रूपान्तरण महर्षि वाल्मीकि के रूप में हुआ।

भगवान् राम उनके पास गये। **'मुनि कहँ राम दण्डवत कीन्हा। आसिरवादु विप्रवर दीन्हा।।'** वाल्मीकि जी ने आशीर्वाद तो दिया किन्तु दिव्यास्त्रों के भण्डार का नाम तक नहीं लिया। राम ने सोचा, महात्माओं के पास यह भण्डार व्यर्थ पड़ा है, इसका सदुपयोग होना चाहिए। इसलिये उन्होंने सीता के अपवाद को निमित्त बनाकर उन्हें उसी वन के समीप प्रेषित किया, जहाँ महर्षि वाल्मीकि का आश्रम था। राम का यह कृत्य महर्षि को अच्छा नहीं लगा। जिस सीता ने हिरण्यमयी लंका को तुच्छ समझा, अग्नि परीक्षिता उसी दिव्य सीता को राम ने मात्र लोकापवाद के भय से वनवास दे दिया- यह अन्याय महर्षि के लिए असह्य था। महर्षि ने साध्वी सीता को संरक्षण दिया। सीता ने लव और कुश नामक दो पुत्रों को जन्म दिया। महर्षि ने उनके माध्यम से राम को सबक सिखाने का निश्चय कर उन्हें दिव्यास्त्रों का संचालन सिखाया। माँ के लाड़-प्यार और महर्षि के कुशल निर्देशन में पल्लवित बच्चे दस-ग्यारह वर्षों में ही युद्ध-कला में निष्णात हो गये। उन बच्चों ने बारहवें वर्ष में राम के अश्वमेध का वह घोड़ा पकड़ लिया, जो उनके क्षेत्र से होकर गुजर रहा था।

अश्व की सुरक्षा में नियुक्त शत्रुघ्न और उनकी सेना धराशायी हो गयी। लक्ष्मण का सारा युद्ध-कौशल उन बालकों के समक्ष धरा रह गया। अतुलित बलशाली हनुमान की अप्रतिहत गति को सींक के एक बाण से निरुद्ध करने वाले भरत बालकों से पराभूत हो गये। रावण की अजेय लंका का विध्वंस करनेवाली अयोध्या की चतुरंगिणी सेना, सुधा-वृष्टि द्वारा पुनर्जीवित वानरी सेना भी पराजित हो गयी। हनुमान विवश हो गये। सुग्रीव, विभीषण सभी मूर्च्छित हो गये। स्वयं राम को आना पड़ा। महर्षि को हस्तक्षेप करना पड़ा। उपालम्भ देते हुए सस्मित उन्होंने राम को समझाया, ''माना कि राजहठ महान् होता है किन्तु जब बालहठ टकराये तो राजहठ को पीछे हट जाना चाहिए।''

महर्षि से राम का परिचय पाकर बच्चों ने राम से प्रश्न किया कि आपने सती साध्वी, जगत् जननी, अग्नि परीक्षा में उत्तीर्ण देवी सीता को वनवास क्यों दिया? राम ने बताया, ''बच्चो! वह थी राजनीति।'' **'राज धरम सरबस एतनोई। जिमि मन माहिं मनोरथ गोई।।'** गोपनीयता राजनीति का सर्वस्व है। सीता का परित्याग राम की राजनीति थी। राम इतने बड़े क्षत्रिय सम्राट! वे वाल्मीकि से अस्त्र-शस्त्र की याचना तो कर नहीं सकते थे। उन्होंने एक युक्ति से वाल्मीकि से वह सब ले लिया। सीता को उन्होंने वनवास का दण्ड नहीं दिया बल्कि बच्चों की शिक्षा-दीक्षा के लिए भरपूर अवसर प्रदान किया। बच्चों के रख-रखाव के लिए माँ से बढ़कर कौन हो सकता है, राम इस नीति के ज्ञाता थे। **'नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान यथारथ।।'** उन्होंने सीता का त्याग नहीं किया बल्कि सर्वोत्कृष्ट दिव्यास्त्रों की प्राप्ति और बच्चों की शिक्षा के लिए एक व्यवस्था दी।

वस्तुतः सीता कोई नारी नहीं थी। गर्भवती सीता का राम ने परित्याग किया, उसे वन में निर्वासित किया- ऐसी भी कोई बात नहीं है। यह मानस है। मानस कहते हैं मन को। रामचरित मानस अर्थात् राम के वे चरित्र, जो आपके मन के अन्तराल में प्रवाहित हैं, जो दृष्टिगोचर नहीं होते। आप अपने मन का सूक्ष्मता से अध्ययन करें तो काम के चरित्र, लोभ-मोह के चरित्र, राग-द्वेष के चरित्र ही दिखाई देते हैं, राम के चरित्र दिखायी नहीं देते क्योंकि वे प्रसुप्त हैं। ये प्रसुप्त रामचरित्र किस प्रकार जागृत हों, जागृत होकर रामपर्यन्त दूरी तय कराकर राममयी स्थिति दिला दें?- वहाँ तक का साधन-क्रम इस रामायण में अंकित है। इसमें विज्ञानरूपी राम हैं, शक्तिरूपिणी सीता है।

कहते हैं, सीता पृथ्वी से निकलीं! क्या बच्चे पृथ्वी से जन्म लेते हैं? जिस धनुष को दस-दस हजार राजा नहीं उठा सके, सीता उसी को उठाकर प्रतिदिन सफाई करती थी, क्या यह तथ्य विचित्र प्रतीत नहीं होता? मूलतः **'धड़ धरती का एकै लेखा। जो बाहर सो भीतर देखा।।'** धड़ कहते हैं इस शरीर को, धरती इस पृथ्वी को कहते हैं। बाह्य जगत् में जो कुछ भी दृष्टिगोचर होता है वह सब इस मन के अन्तराल में निहित है-

असन वसन पशु वस्तु विविध विधि, सब मनि महँ रह जैसे।
सरग नरक चर अचर लोक बहु, बसत मध्य मन तैसे।।

भोजन, वस्त्र, धन-धान्य, मर्यादा, प्रतिष्ठा इत्यादि जिस प्रकार एक मणि में विद्यमान है, ठीक इसी प्रकार इस मन के अन्तराल में स्वर्ग-नरक, चर-अचर, परमधाम सहित सम्पूर्ण लोक विद्यमान हैं। जब जिसका समय आता है वैसा ही आकार रूप में घटित होता रहता है।

शरीररूपी पृथ्वी में शक्ति प्रसुप्त है। योगरूपी जनकपुर, चित्तचढ़रूपी चाप। चित्त की चंचलता ही चाप है। योग का अभ्यास करते-करते चित्त के चांचल्य का क्रम जहाँ टूटा, ध्यान की स्थिति बन जाती है। ध्यान ही धनुष है। ध्यान की स्थिति बनते ही शक्तिस्वरूपा सीता उस भक्त के हृदय में प्रसारित हो जाती है। जहाँ शक्ति आयी, जागृतिरूपी जयमाला। **'मोहनिसाँ सबु सोवनिहारा।'**- सब सोये ही तो हैं। जीव जागृत तब होता है, जब **'जानिय तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा।।'** समस्त विषयों से वैराग्य हो जाय। लौकिक यज्ञों की परम्परा से हटकर गोस्वामी जी द्वारा सृजित एक अद्भुत यज्ञ- 'धनुष यज्ञ' इसी जागरण का नव-सन्देश है।

अगणित राजाओं ने अपने-अपने बाहुबल का प्रदर्शन किया; किन्तु उसे तिलमात्र भी हटा नहीं सके। दस-दस हजार राजाओं ने उस धनुष को एक साथ पकड़ा किन्तु उसे हिला तक न सके। क्या दस हजार लोग किसी धनुष को एक साथ उठाने का प्रयास कर सकते हैं? यह अतिरंजित गल्प ही प्रतीत होती है। किन्तु आध्यात्मिक धरातल पर ध्यान ही धनुष है। चित्त के चांचल्य का क्रम टूटे बिना ध्यान की स्थिति नहीं मिलती। दसों इन्द्रियों की सहस्रों प्रवृत्तियाँ दस हजार नरेश हैं। जब तक इन्द्रियाँ और उनमें वासनामयी वृत्तियों का प्रवाह है, तब तक इस राजयोग का अनुष्ठान आप करते रहें, हाथ कुछ नहीं लगता।

प्रायः पथिक इस आत्म-पथ पर अग्रसर होने के लिए उद्यत हो जाते हैं, मार्ग

की अपेक्षित सावधानियों पर विचार नहीं करते। मार्गदर्शक तत्त्वदर्शी सद्‌गुरु उन्हें उपलब्ध नहीं हैं अतः अपनी सूझ-बूझ से वे कुछ-न-कुछ करते ही रहते हैं। **'चले इष्टदेवन्ह सिर नाई।'**- अपने-अपने इष्टदेवों गणेश, महेश, सुरेश, दिनेशादि जो भी जिसका इष्ट था, दस हजार राजाओं के दस हजार इष्ट, सभी ने अपने-अपने इष्टदेवों को शिर झुकाया किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली।

राम ने भी धनुष की ओर दृष्टिपात् किया, इष्ट का स्मरण किया। **'गुरहि प्रनामु मनहिं मन कीन्हा। अति लाघवँ उठाइ धनु लीन्हा।।'** बड़ी सरलता से उन्होंने धनुष उठा लिया। उनके इष्ट सद्‌गुरु थे। आरम्भिक अवस्था में गुरु के मूर्तस्वरूप को प्रणाम किया जाता है, उनकी आज्ञा का पालन किया जाता है। दूसरा सोपान इससे सूक्ष्म है। इसमें मन से गुरुदेव का स्वरूप पकड़कर अपने हृदय में ही उनका अभिनन्दन करते हैं। तत्क्षण ध्यान की स्थिति बन जाती है। यही विधि है, यही यज्ञ है। **'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'**- यज्ञों में सर्वोपरि है यह जप-यज्ञ। जहाँ ध्यान की स्थिति बँधी, शक्तिरूपी सीता प्राप्त हो जाती है।

इस अध्यात्म-जगत् में मोहरूपी रावण है। **'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला।'**- मोह सारी व्याधियों का मूल है। **'तिन्ह तें पुनि उपजहिं बहुसूला।।'**- इसी से सभी शूलों की सृष्टि होती रहती है। यही सम्राट है आसुरी प्रवृत्तियों का। जब तक मोहमयी प्रवृत्तियाँ जीवित हैं, यह शक्तिरूपी सीता योगाग्नि में प्रसुप्त रहती है। पंचवटी में भगवान् राम ने सीता से कहा-

सुनहु प्रिया ब्रत रुचिर सुसीला। मैं कछु करबि ललित नरलीला।।
तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा। जौ लगि करौं निसाचर नासा।।

प्रिये! अब मैं कुछ ललित, प्रियदर्शिनी लीला करने जा रहा हूँ। वह ललित लीला क्या थी? निशाचरों का संहार, जिसमें रक्त की नदियाँ बह चलीं, दीर्घकाय हाथी उस प्रवाह में बहने लगे, सौ-सौ योजन लम्बी कायावाले कुम्भकरण इत्यादि उसी में डूब गये! यह ललित लीला है या भयंकर? **'तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा।'**- लगता है पावक कोई फाइव स्टार होटल था। यह भी कोई निवास-स्थान है? कहते हैं कि राम ने नरलीला की, मनुष्योचित आचरण! अग्नि-निवास मानवोचित है क्या? क्या यह सम्भव है?

वस्तुतः **'वपुष ब्रह्माण्ड सुप्रवृत्ति लंका।'**- शरीर सुव्यवस्थित ब्रह्माण्ड है, मायिक प्रवृत्तियाँ ही लंका है। मनरूपी मय दानव ने इसकी संरचना की है। जिसमें मोहरूपी रावण, क्रोधरूपी कुम्भकर्ण, लोभरूपी नारान्तक, आशारूपी पिशाचनियाँ-

इस प्रकार अनन्त आसुरी प्रवृत्तियाँ हैं। **'दसमुख बैठ सभा एक बारा। देखि अमित आपन परिवारा।।'** रावण का परिवार अनन्त है।

निशाचरों के संहार के उपरान्त शेष एकमात्र रावण ने अपार निशाचरों का सृजन कर लिया। सब तो मर गये थे, अब अपार कहाँ से आ गये? वस्तुतः रावण मोह का प्रतीक है। मोह सम्पूर्ण व्याधियों का मूल है, जड़ है। किसी वृक्ष को आप ऊपर से काट दें, यदि मूल विद्यमान है तो आप कुछ ही अन्तराल में पायेंगे कि वह वृक्ष, शाखा-प्रशाखा, फल-फूल सब ज्यों-के-त्यों हैं। यदि मूल विद्यमान है तो उसके अन्तराल में समस्त आसुरी सम्पद् समाहित है इसलिए रावण दुर्ग से अपार सेना लेकर चला; किन्तु जब वह मरा, तो **'रहा न कुल कोउ रोवनिहारा।'**- आँसू बहाने वाला या जलदाता भी कोई नहीं बचा।

मोह के सह-अस्तित्व मिटते ही सीता अग्नि से प्रगट हो गयीं। मोह के मिटते ही परमात्मा से मिलन का नाम योग है। संसार के संयोग-वियोग से रहित, आत्यन्तिक सुख परमतत्त्व परमात्मा के मिलन का नाम योग है। यह योगाग्नि एक ऐसी अग्नि है जो विकारों को, शुभाशुभ को सदा-सदा के लिए शान्त कर देती है। इस योगाग्नि में अवगाहन कर सीता प्रगट हो गईं। अग्नि ने सीता का हाथ पकड़कर कहा- ''राम! यह आदिशक्ति, चिन्मय अविनाशिनी शक्ति सीता सदा निर्लेप, निर्दोष तथा तुमसे अभिन्न और तुम्हारा ही प्रतिबिम्ब है, इसे स्वीकार करो।'' वास्तव में जब योग में पूर्णता की अवस्था आ जाती है, मोह के मिटते ही आदि चिन्मय आह्लादिनी शक्ति के रूप में आत्मा परिवर्तित हो जाती है। सर्वत्र राममयी स्थिति प्रसारित हो जाती है।

'राम राज्य बैठे त्रैलोका। हरषित भये गये सब सोका।।' राम के राज्याभिषिक्त होते ही तीनों लोकों में भव-सम्बन्धी शोक सदा के लिए मिट गये, सर्वत्र हर्ष छा गया। विकार रहा ही नहीं। अब ध्यान करें तो किसका? आगे कौन-सी सत्ता है जिसकी शोध शेष है? ऐसी अवस्था में ध्यान ही धोबी है। कबीर ने कहा- **सद्गुरु धोबिया से परिचय नाहीं।** वस्त्र के धब्बों को धोबी धुल देता है किन्तु अन्तर्मन पर मलावरण विक्षेप के रूप में संस्कारों के धब्बे सद्गुरु ही धुलता है। तीनों लोकों में जब कोई विकार नहीं रह गया, हर्ष छा गया तो ध्यान से ढूँढ़ें किसे? धब्बा तो धुल गया। अतः शक्ति का उपयोग समाप्त हो जाता है। कुछ काल तक यह ब्रह्मविद्या के आश्रित प्रसुप्त रहती है और जब लव-कुश का जन्म हो जाता है, लव में कुशलता प्राप्त हो जाती है, तब शक्ति की आवश्यकता ही नहीं रहती। सीता मरती नहीं बल्कि

जिस धरती से उसकी जागृति हुई थी, स्थिति दिलाकर पुनः धरती में सदा के लिए प्रसुप्त हो जाती है।

सीता पृथ्वी में समाहित हो गई। सर्वत्र रामराज्य स्थापित हो गया। **'नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना।।'** सकल परमगति के अधिकारी! **'बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई।।'** शक्ति का उपयोग नहीं रह जाता। उस योगी के लिए उसका प्रयोजन नहीं है लेकिन वह पृथ्वी में रहती सदैव है। उसके द्वारा दूसरों का मार्गदर्शन होता है। सन्तों से ही यह जागृति सम्भव है। यह सीता आपके हृदय में छिपी हुई ईश्वरीय अनुभूति है, ईश्वरीय स्वरूप है न कि कोई नारी। बाहर समाज में सीता का जो रूप प्रचलित है वह आपकी गौरवशाली संस्कृति है, इतिहास है, आदर्श है, सुसंस्कृत जीवन-वृत्त है और यह आपके मोक्ष का मार्ग है।

।। ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान् की जय।।

वर्ण

(लाइफ लाइन हास्पिटल, सुन्दरपुर, वाराणसी के उद्घाटन समारोह के अवसर पर दिनांक १६ जनवरी, सन् २०००, रविवार को पूज्य महाराजजी द्वारा समाज के ज्वलन्त प्रश्न का समाधान।)

बन्धुओ!

आज सभा से कुछ प्रश्न आये हैं। एक सज्जन ने पूछा है कि रामचरितमानस में कतिपय जातियों, जैसे- **'जे बरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा।।'** श्वपच, तेली, कुम्हार, कोल, किरात, कलवार इत्यादि को अधम कहा गया है। अतः बताया जाय कि वर्ण सामाजिक व्यवस्था है या धर्म? यद्यपि इसकी विशद् चर्चा आश्रम से प्रकाशित 'जीवनादर्श एवं आत्मानुभूति', 'यथार्थ गीता' और 'शंका समाधान' नामक पुस्तकों में है फिर भी हम संक्षेप में बताने का प्रयास करेंगे। वर्ण यदि मनुष्यों का बँटवारा है तब तो आप अपना शवपट (कफन) स्वयं ही खरीद लें।

प्राचीन भारत में आर्य-संस्कृति सम्पूर्ण विश्व में फैल गयी थी। आपके ही पूर्वजों का उद्घोष था, **'कृण्वन्तु विश्वमार्यम्'** अर्थात् पूरे विश्व को आर्य बना लो। उन्होंने प्रयास भी किया। तीन चौथाई विश्व तक वे पहुँचे भी। अरब के गजनी, समरकन्द इत्यादि शहर भारतीय नरेशों के बसाये हुए हैं। अल्ताई पहाड़, हिन्दूकुश पर्वत तक भारतीय सीमा के नक्शे मिलते हैं। सम्पूर्ण एशिया, यूरोप का कुछ भाग, जर्मनी इत्यादि आर्य हैं। अमेरिका में कोलम्बस से भी पहले माया और इंका संस्कृति पहुँच चुकी थी। आवाह्न था सम्पूर्ण विश्व को आर्य बनाओ, परमश्रेय का भागीदार बनाओ! वही आर्य-संस्कृति आज सिमटकर थोड़े में रह गयी है। यह बौद्ध, जैन और सिख आपके सगे भाई हैं किन्तु वर्ण नहीं मानते। पूर्वी (अब बांग्ला देश) और पश्चिमी पाकिस्तान सब हिन्दू हैं। भारत में सारे ईसाई हिन्दू ही हैं। आप सबको धर्म बहिष्कृत कर आये दिन समाप्त होने की ओर जा रहे हैं। आज हरिजन कहता है कि हम हिन्दू जनमे, इसमें हमारा वश नहीं था किन्तु हम मरेंगे नहीं, हम बौद्धिस्ट हैं। तब तो तीन चरण का सनातन धर्म बचा है। अस्पृश्य जातियाँ कहती हैं कि जब हमारा प्रवेश ही नहीं है तब हमारे किस काम के ये मन्दिर!

हिन्दुस्तान विभाजन के समय बचे साठ करोड़ हिन्दुओं में अब तीस-पैंतीस करोड़ आप बचे हैं। जो बचे हैं उनमें भी मेल नहीं- खान-पान में मेल नहीं, शादी-विवाह में मेल नहीं, आचरण में मेल नहीं, जीवन-पद्धति में मेल नहीं; किन्तु डींग ज्यों-की-त्यों 'बोल सनातन धर्म की जय!' भारत के कई राज्यों में बसे मुसलमानों और ईसाइयों से हिन्दुओं की संख्या कम हो गयी है।

हम आये दिन नारा लगाते हैं, 'विश्वगुरु भारत!'- यह गर्वोक्ति कितनी खोखली है। क्या आप अपने धर्म में चारों वर्णों से जो बाहर के हैं, उनमें से किसी एक को भी दीक्षित कर सकते हैं? क्या उनमें से किसी को भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र में सम्मिलित कर सकते हैं? कभी नहीं! जब एक को भी अपना चेला नहीं बना सकते तो कैसा विश्वगुरु? गुरु शिष्य को अपने समान बनाता है, गुरु बना देता है; किन्तु आप ऐसे गुरु हो कि कोई विदेशी शिष्य छू दे तो गुरु ही समाप्त हो गया।

आये दिन रामायण (तुलसीकृत रामचरित मानस) के पन्ने फाड़े जाते हैं कि **'ढोल गँवार सूद्र पसु नारी'** तुलसीदास पक्षपाती हैं। **'पूजिअ विप्र शील गुन हीना।'** यह रामायण साठ प्रतिशत जनता को अभागा, अस्पृश्य, नीच और अधम कहकर पुकारती है। **'जे बरनाधम तेलि कुम्हारा।'**- ये वर्णों में अधम हैं। ऐसी रामायण घर में रखने योग्य नहीं। तुलसी ब्राह्मणवादी हैं। जबकि तुलसीदास जी को इन ब्राह्मणों ने ही कभी चैन से रहने नहीं दिया। रामायण यमुना में डुबो दी गयी। अतः विचार कर लें कि वर्ण की स्थिति कहाँ है?

वर्ण वास्तव में हमारा सनातन धर्म है। सनातन है आत्मा! उस आत्मा को प्राप्त करने की, उसे विदित करने की साधना की सीढ़ी में चार सोपान ये चार वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं। यदि आप साधन-क्रम नहीं जानते, ईश्वर-प्राप्ति की साधना का नियत कर्म नहीं जानते और जानकारी के पश्चात् साधन आरम्भ नहीं करते तो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की तो बात ही क्या, आप शूद्र भी कदापि नहीं है।

'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।'- इस जगत्रूपी रात्रि में सभी निश्चेष्ट पड़े हुए हैं, दीर्घ तन्द्रा में हैं। रात-दिन जो परिश्रम कर रहे हैं मात्र स्वप्न देखते हैं। संयमी पुरुष इसमें जग जाता है। जिस दिन से संयम की शुरुआत है उस दिन से वह शूद्र है। आरम्भ में संयम सधेगा नहीं, उसके लिए किसी महापुरुष की सेवा करें। शूद्र अर्थात् क्षुद्र, अल्पज्ञ। यह भगवत्पथ की प्रवेशिका है। यदि भगवत्पथ

जानकर हमने उस पर कदम नहीं रखा तो हम शूद्र भी नहीं हैं। उसे जानकर यदि कदम रख दिया तो चाहे कोई अरब में ही क्यों न जन्मा हो, वह आपके सनातन धर्म के प्रशस्त पथ पर है। विधि जागृत हुई, सद्गुणों का संग्रह होने लगा तो वैश्य। प्रकृति से संघर्ष झेलने की क्षमता आयी तो क्षत्रिय। विकार शान्त हुए, ब्रह्म में विलय की योग्यता आयी तो ब्राह्मण! विलय पा लेने के बाद श्रेणियाँ समाप्त! फिर तो **'न ब्राह्मणो न क्षत्रियः न वैश्यो न शूद्रः चिदानन्दरूपो शिवोऽहं शिवोऽहम्।'**

इस प्रकार वर्ण अन्तःकरण की योग्यता का पैमाना था। जिस प्रकार शास्त्रोक्त अच्छे-अच्छे नाम लोग अपने घरों में रख लेते हैं, इसी प्रकार कालान्तर में व्यवसायों के सम्बोधन में इन वर्णों का प्रयोग कर समाज में विभिन्न जातियों का सृजन हुआ। जो सेवा-विधि से जीते थे शूद्र, धन-संग्रह करते थे वैश्य, सुरक्षा-व्यवस्था देखनेवाले क्षत्रिय और पढने-पढ़ानेवाले ब्राह्मण कहे गये। आरम्भ में उनका उद्देश्य अच्छा ही था किन्तु परवर्ती व्यवस्थाकारों ने पूर्वजों के नाम का दुरुपयोग कर गर्हित सामाजिक व्यवस्था दे डाली। उदाहरण के लिए, आजकल मनु के नाम से प्रचलित स्मृति के अनुसार, जन्म के बारहवें दिन शिशु का नामकरण किया जाय। ब्राह्मण का नाम मंगलसूचक, क्षत्रिय का नाम बलसूचक, वैश्य का धनसूचक और शूद्र का नाम घृणासूचक रखें। जन्मराशि का अक्षर मान लें 'क' आया तो ब्राह्मण बालक का नाम कृष्णदत्त, 'प' आया तो पतित पावन, क्षत्रिय बालक के लिए क्रन्दन सिंह, पर्वत सिंह, वैश्य बालक के यहाँ करोड़ीमल, पन्नालाल और शूद्र के यहाँ उसी समय कोई बालक आया तो कतवारू, पतवारू नाम रखा जाता है, जिससे संसार में कोई कहीं जाकर नाम भर बता दे तो लोग यह समझ लें कि इसके साथ कैसा व्यवहार करें। यह धोखाधड़ी नहीं तो और क्या है?

यदि यही सनातन था तो अब यह व्यवस्था टूट चुकी है। अब शूद्र समझे जाने वालों के बच्चों के नाम परमानन्द, ब्रह्मानन्द रखे जाने लगे हैं। स्टेट पीरियड की यह सामन्ती व्यवस्था अब तिरोहित होती जा रही है। समाज की इन जातियों के लिए आरम्भ में निर्धारित जो गुण थे, वे भी सामन्ती युग में शिथिल होते गये। यह इतना रूढ़ हो गयी कि शूद्र का बेटा शूद्र ही होगा। ब्राह्मण का बेटा ब्राह्मण ही कहलाएगा, चाहे अंगूठा छाप ही क्यों न हो। साधन-क्रिया न भी हो, ब्राह्मण माने मुक्त! क्योंकि शास्त्रों में ब्राह्मण माने मुक्त होता ही है। ब्रह्म-दर्शन, ब्रह्म में विलय और ब्रह्म में स्थिति पानेवाला ब्राह्मण वस्तुतः मुक्त है। किन्तु योग्यताविहीन भी वही दावा करने लगे कि ये जातियाँ ही वर्ण हैं और बाहर समाज का चार वर्ण ही सनातन

धर्म है, इसी व्यवस्था में रहो, इसी में मुक्ति मिलेगी- हमारे आर्षग्रन्थों में ऐसा कुछ नहीं है।

वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में वेद में एक ऋचा मिलती है- **'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्'** भगवान् मुख-स्तर पर ब्राह्मण हैं। उस अवस्था में शम, दम, तप, शौच, शान्ति, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान, ब्रह्म में विलय दिला देनेवाले सारे गुण साधक के स्वभाव में ढल जाते हैं। उस समय बुद्धि मात्र यंत्र होती है। साधक के मुख से भगवान् ही बोलता है। अस्तु, भगवान् मुख स्तर पर ब्राह्मण हैं। विकारों को काटते-छाँटते हैं तो बाहु स्तर पर भगवान् ही क्षत्रिय हैं। भगवान् ही तुम्हें थोड़ा चलना सिखाते हैं तो उरु (जंघा) स्तर पर वैश्य और साधना के आरम्भ में अर्थात् जागृति-काल में चरण स्तर पर वह शूद्र जन्मता है।

भागवत का एक श्लोक है कि परमात्मा की तुष्टि के लिए उनके पावन चरण-कमलों से सेवावृत्ति और शूद्र का जन्म हुआ। अतः भगवान् को प्रसन्न करने की क्षमता यदि किसी में पायी गयी तो शूद्र में, अन्य किसी में नहीं। साधना के आरम्भ में परम पावन चरणों में जहाँ हम समर्पित हुए तो भगवान् ही सेवा-विधि देंगे कि भजन कैसे करें? उस विधि को पकड़ा तो मान लो भर्ती हो गयी, वह जनम गया। साधना के आरम्भ के साथ ही वह शूद्र है। वह प्रभु के निर्देशन के अनुसार प्रभु की सेवा, सुमिरण करता है।

ठीक यही गीता में है कि चार वर्णों की रचना मैंने की। तो क्या मनुष्यों को चार श्रेणियों में बाँटा? भगवान् कहते हैं- नहीं, **'कर्माणि प्रविभक्तानि'**- कर्म को बाँटा। साधन-पद्धति को मैंने चार भागों मे बाँटा। उस बँटवारे के अनुसार आचरण करना हमारा धर्म है। इसीलिए वर्ण हमारा सनातन धर्म है। यदि हम भजन की विधि नहीं जानते तो हमारे लिए कोई वर्ण नहीं है। तब तक हम इस संसार के क्षेत्र में कार्यरत प्रकृति की चक्की में पिसने वाले एक प्राणी हैं। इन्हीं में से जब साधना समझ में आयी, समझकर सुमिरण शुरू किया, भगवान् स्वीकृति प्रदान करने लगे, उस दिन से वह शूद्र है। इसके पूर्व जब तक वह कर्म नहीं जानता, शूद्र भी नहीं है।

तुलसीदास जी ने इसकी शोध की है कि समाज में वर्ण किसने खड़ा कर दिया। रामचरित मानस में है कि एक बार गरुड़ जी को सन्देह हो गया कि भगवान् का अवतार हमने सुना; किन्तु वैसा कुछ प्रभाव देखने में नहीं आया। **'भवबंधन ते छूटहिं नर जपि जा कर नाम। खर्ब निसाचर बाँधेउ नागपास सोई राम।।'** क्षुद्र निशिचर मेघनाद ने राम को नागपाश में बाँध दिया। हम न गये होते तो युद्ध का परिणाम न जाने क्या होता।

इतना मन में आना ही था कि गरुड़ को सन्देह ने धर दबोचा। उन्हें न रात चैन पड़ती थी, न दिन चैन पड़ता था। आत्मा शत्रु हो गयी। जहाँ शकुन मिलते थे, अपशकुन मिलने लगे। गरुड़ सीधे नारद जी के पास गये, अपना संशय कह सुनाया। नारद काँप गये। उन्होंने सोचा कि भगवान् की इसी माया ने तो अनेकों बार हमें उलझाया है। वे बोले, ''भाई! मैं समाधान नहीं कर सकता। आप ब्रह्मा के पास जायँ।'' विधाता ने विचार किया कि हरि की माया ने विपुल बार मुझे नचाया है, मेरी कृति गरुड़ यदि उलझ गया तो आश्चर्य ही क्या। उन्होंने समझाया, ''आप शिवजी के पास जायँ।'' शंकर जी ने दृष्टि डालते ही समझ लिया कि बेचैनी का कारण क्या है? **'होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना। सो खोवै चह कृपानिधाना।।'**– इसने कभी अभिमान किया होगा। **'सकल शोकदायक अभिमाना।'**– इस जीव के दुःख-दर्द का कारण अभिमान है, वही इसे हो गया है। भगवान् इसका अहंकार मिटाकर इसकी रक्षा ही करना चाहते हैं। अस्तु , उन्होंने कहा, ''गरुड़! तुम्हारा सन्देह तब दूर होगा, जब कुछ काल सत्संग करो। तुम ऐसा करो कि काकभुसुण्डि आश्रम चले जाओ, तुम्हारा दुःख दूर हो जायेगा।'' उत्तर दिशा में एक सुन्दर गिरि नीलगिरि है। गरुड़ गये, शैल देखा। शिखर पर तालाब, तालाब में सात सीढ़ियाँ! सीढ़ियाँ मणियों से जड़ी हुईं। पारदर्शी सीढ़ियाँ! चार शिखर जिन पर चार वृक्ष। रात-दिन भजन, रात-दिन सत्संग, अन्य कुछ वहाँ होता ही नहीं। कुटिया में पहुँचते ही गरुड़ के सारे सन्देह दूर हो गये और जहाँ उपदेश सुना, सदा-सदा के लिए निर्मूल हो गये।

गरुड़ जी ने सादर काकभुसुण्डि जी के चरणों में प्रणाम किया। पक्षियों के सम्राट गरुड़ ने पक्षियों में चाण्डाल कौवे को सादर नमन किया। भगवान् और भगवद्-धर्म का अभिमान तो कब का समाप्त हो गया। कृतज्ञता ज्ञापन करते हुए उन्होंने कहा– **संशय सर्प ग्रसेउ मोहिं ताता। दुखद लहर कुतर्क बहुब्राता।। तव सरूप गारुड़ि रघुनायक। मोहिं जियाएउ जन सुखदायक।।** तात! संशयरूपी सर्प ने मुझे डस लिया था। कुतर्करूपी लहरें उठा करती थीं। आप ऐसे विषशामक मंत्रविद् के दर्शनमात्र से मेरा यह दंश-प्रभाव शमित हुआ, मुझे नवजीवन मिला है। काकभुसुण्डि ने कहा, ''नहीं गरुड़जी! आपको कोई सन्देह नहीं था। इसी सन्देह के निमित्त भगवान् ने आपको मेरे पास मुझे कृतार्थ करने के लिए भेजा है, और साधन-पथ में सन्देह स्वाभाविक है। कल प्राप्ति होनी है, आज तक माया कामयाब हो सकती है, उलझन पैदा कर सकती है।''

अत्यन्त मधुर वाणी में काक ने कहा, ''आप क्या सन्देह में पड़े, एक बार जैसा मैं पड़ा था। **पूरब कल्प एक प्रभु, जुग कलियुग मलमूल। नर अरु नारि अधर्म रत, सकल निगम प्रतिकूल।। (मानस, ७/९६ ख)** बहुत पहले की बात है। पूर्व के एक कल्प में पापों का मूल कलियुग था। नर और नारी अधर्मरत थे। सभी वेदपथ के विपरीत चलनेवाले थे। (काकभुसुण्डि जी अपना संस्मरण सुना रहे हैं, आज त्रेता है इसके पहले सतयुग, उससे भी बहुत पहले एक कलियुग था। उससे भी एक हजार जन्म वर्ष पूर्व का संस्मरण। नीलगिरि पर महर्षि काक के सत्ताईस कल्पों के निवास से भी पहले का एक संस्मरण। कई लाख वर्ष पूर्व की घटना! उसका संस्मरण वे सुना रहे हैं, न कि इक्कीसवीं शताब्दी का वर्णन कर रहे हैं। आजकल के सन्दर्भ में इसे न लें।) उस समय मैं शूद्र-तन में था। वह हमारा प्रथम जन्म था।''

प्रथम जन्म का आशय क्या है? जीव ईश्वर का अंश है, क्या वह टुकड़ा पहली बार ईश्वर से अलग हो रहा था? नहीं! जन्म वही सराहनीय है जिसमें आत्मिक जागृति हो जाय। यह जागृति ही जन्म है। ऐसा जन्म जिसमें मृत्यु नहीं होती; क्योंकि ईश्वर-पथ में बीज का नाश नहीं होता। उन्हें भगवान् शंकर का आशीर्वाद भी था कि किसी भी जन्म में उनका पूर्वज्ञान मिटेगा नहीं। उस युग का वर्णन करते हुए वे कहते हैं-

कलिमल ग्रसे धर्म सब, लुप्त भये सदग्रन्थ।
दंभिन्ह निज मति कल्प करि, प्रकट किए बहुपन्थ।। (मानस, ७/९७ क)

कलियुग के पापों ने सारा धर्म उदरस्थ कर लिया, सद्ग्रन्थ लुप्त हो गये किन्तु दम्भियों ने अपनी बुद्धि से कल्पना करके तमाम पंथ गढ़ लिये, **'प्रकट किये बहु पंथ।'** कलियुग ने क्या ग्रस लिया था? ग्रसा था धर्म! धर्म होता क्या है? वर्ण-धर्म! **बरन धर्म नहिं आश्रम चारी। श्रुति बिरोध रत सब नर नारी।।'** वर्ण-धर्म था ही नहीं, न चार आश्रम थे। कलियुग ने जिसको ग्रस लिया था, वह था वर्ण-धर्म। **सब लोग बियोग बिसोक हए। बरनाश्रम धर्म अचार गए।** सब लोग प्रियजनों के विच्छोहजन्य शोक से मृतप्राय हो गये। वर्णाश्रम के धर्म और आचरण तिरोहित हो गये। धर्म के नाम पर जो प्रचलित था वह तो दम्भियों की बुद्धि की कल्पना से गढ़ा हुआ धर्माभास और समानान्तर धर्म था। धर्म तो थीं साधना की श्रेणियाँ, भगवत्-पथ के सोपान; किन्तु दम्भियों ने जो गढ़ा तो मनुष्यों को बाँट दिया-

जे बरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा।।
नारी मुई गृह संपति नासी। मूड़ मुड़ाइ होहिं संन्यासी।।

उन्होने नये-नये नियम गढ़ लिए कि वर्णों में अधम कौन? तेली, कुम्हार, श्वपच, कोल, किरात, कलवार, चमार, धोबी इत्यादि जातियाँ। जो मजदूरी करके जीवन-निर्वाह करते थे, अधम माने गये। सेवा करके जीविकोपार्जन करनेवाले उनके द्वारा अधम कहे गये। भजन का अधिकार इनसे छीन लिया गया। स्त्री मर जाने या सम्पत्ति नष्ट हो जाने पर वे संन्यासी होने लगे। उनका यह कृत्य उस कलियुग में अन्याय माना गया।

ते विप्रन्ह सन आपु पुजावहिं। उभय लोक निज हाथ नसावहिं।।

वे विप्रों से अपनी पूजा कराते और इस प्रकार अपना दोनों लोक नष्ट करते हैं। यह लोक तो तभी नष्ट हो गया कि हम अधम हैं- न मन्दिर जा सके न पूजा कर सके, अगला लोक भी नष्ट। जब कलियुग ने धर्म को ग्रस लिया था, वर्ण थे ही नहीं तो ये विप्र कहाँ से आ गये। काकभुसुण्डि जी ने बताया कि विप्र भी बना लिए गये थे, **द्विज चिन्ह जनेउ उघार तपी।**- जनेउ पहन लिया, द्विज हो गये। वस्त्र फेंक दिया, तपस्वी बन गये। ब्राह्मण की जो गीतोक्त परिभाषा है, **'शमः दमः तपः शौचः'**- इन्द्रियों का दमन, मन का शमन, तप (इष्ट के अनुरूप मनसहित इन्द्रियों को तपाना), स्वरूप का अध्ययन, आस्तिकता, धारणा, ध्यान, समाधि इत्यादि लक्षण वाले ब्राह्मण नहीं थे। फिर वे थे कैसे? **बिप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ बृषली स्वामी।।** निरक्षर, लोलुप, कामी, चरित्रहीन, शठ, धोखेबाज और स्वैराचारी भी विप्र कहलाने लगे। कैसे पहचाने विप्र को? जनेउ जो थी **'द्विज चिन्ह जनेउ।'** इस प्रकार उन दम्भियों ने शूद्र भी गढ़ लिये, विप्र भी गढ़ लिये। ऐसे विप्रों से पूजा कराने से हमारा दोनों लोक कैसे नष्ट हो जायेगा?

इस प्रकार मानव-मानव में वर्ण-विभाजन उस युग-जमाने के दम्भियों की देन थी; उसी लकीर को आज आप क्यों पीट रहे हैं? तुलसीदास जी या उनकी रामायण यह नहीं कहती कि मजदूरी करनेवाले हीन या अधम हैं। गोस्वामी जी की तो मान्यता है कि **'बुध जुग धर्म जानि मन माहीं। तजि अधर्म रति धर्म कराहीं।।'** प्रबुद्ध लोग धर्म का उतार-चढ़ाव मन में जानते हैं। जिसकी मानसिकता बाहर जाति-पाँत में धर्म ढूँढ़ती है वह गोस्वामी जी के अनुसार, उस कलियुग के दम्भियों की कल्पना की उपज है। वे उसी परम्परा से प्रभावित हैं, जो लाखों वर्ष पहले व्यतीत हो गया था। आज भी उसी लकीर को पीटना अपनी क्षुद्रता का द्योतन मात्र है।

रामराज्य में वर्ण-धर्म

वर्ण हमारा सनातन धर्म है। रामचरित मानस के अनुसार जब त्रेता में राम का राज्याभिषेक हुआ, रावण मारा गया, राम अभिषिक्त हो गये, धर्म लौट आया।

बरनाश्रम निज निज धरम, निरत वेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि, नहिं भय सोक न रोग।। ७/२०।।

वर्ण अर्थात् साधना की श्रेणी जो आपको उपलब्ध है, उसी के आश्रित व्यवहार करना आपका निज धर्म है। उसी की पूर्ति के लिए आपको प्रयत्न करना है इसलिए आश्रम भी कहलाता है। इस वर्ण और आश्रम के अनुसार रामराज्य में लोग अपने-अपने धर्म में वेद के अनुसार आचरण करते थे। चारों वर्णों के लोग वेद के ज्ञाता थे। शूद्र थे अवश्य लेकिन वेद के ज्ञाता थे। आप ही बतायें, यह रामराज्य का शूद्र कैसा है? कुछ लोग कहते हैं कि शूद्र वेद न पढ़े, संस्कृत न पढ़े। यह बाहर की व्यवस्था तो काकभुसुण्डि जी के कलियुग के दम्भियों की देन थी, जो बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक आ गयी, आगे भी जा सकती है; किन्तु तुलसीदास के अनुसार रामराज्य में शूद्र वेद समझने और तदनुसार रास्ता चलनेवाले थे।

अल्प मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुन्दर सब बिरुज सरीरा।।
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना।।

राम के राज्य में सम्पूर्ण समाज चार वर्णों में बँटा था। उसके अनुसार चलना ही धर्म था लेकिन दरिद्र कोई नहीं था। झाड़ू लगाने वाला था लेकिन सम्पत्ति में वह नरेश से कम नहीं था। दुःखी कोई नहीं, असहाय कोई नहीं। **'नहिं कोउ अबुध'**- सब प्रबुद्ध थे। यह नहीं कि शिक्षा का अधिकार किसे है, किसे नहीं। **'सब गुनग्य पण्डित सब ज्ञानी।'**- सभी गुणों की खान पण्डित और ज्ञानी थे। शूद्र थे अवश्य लेकिन थे पण्डित! आप ही बताएँ वर्ण क्या है?

एक राजघाट था। गोस्वामी जी कहते हैं, **'राजघाट सब विधि सुन्दर बर। मज्जहिं तहाँ बरन चारिउ नर।।'** चारों वर्णों के लोग एक साथ राजघाट पर अवगाहन करते थे। राम जी वहीं नहाते थे, वशिष्ठ जी वहीं स्नान करते थे, चमार भी वहीं स्नान करता था। यह नहीं कि दूर बैठो! हमें मत छूना।

वर्ण साधना के सोपान हैं। वरण कहते हैं चयन को। एक ही योग-साधना के चार सोपान हैं। जिस घट में राम का राज्य है, उन महापुरुष के संरक्षण में जो भी साधक और भक्तमण्डल हैं, वे सब उनके रामराज्य के निवासी हैं। उनमें से जब इष्टदेव राम हृदय से जागृत होते हैं, जिस दिन से वह भजन में प्रवृत्त होता है उसी दिन से इस वर्ण की शुरुआत है। यहीं से धर्म शुरू होता है। **'बरनाश्रम निज निज धरम'**- अपना-अपना धर्म। जिसे जो श्रेणी उपलब्ध है, वहीं से साधना करता है। **'निरत बेदपथ लोग।'**- वे निरत अर्थात् अनासक्त रहकर चलते थे। वेद अपौरुषेय

है। वेद कोई पुस्तक नहीं है। वेद परमात्मा के श्रीमुख की वाणी है। तब भी ऐसा ही था, आज भी है और भविष्य में भी। ज्योंही साधक भजन में प्रवृत्त होता है, अपौरुषेय परमात्मा उसके भीतर बोलने लगता है, वह वाणी उतरने लगती है। उसी वाणी को समझकर, भली प्रकार अध्ययन करके उनके अनुसार रामराज्य के निवासी आचरण करते हैं। ऐसा नहीं कि सुबह-शाम आँख मूँद लिया और भजन हो गया या भजन के साथ कुछ मनोरंजन कर लिया, चाय पी लिया, थोड़ा हँस लिया- ऐसा कुछ नहीं। भजनानन्दी को हँसी आती ही नहीं। उसकी स्थिति तो **'गदगद गिरा नयन बह नीरा'** की होती है। **'जागत में सुमिरन करे, सोवत में लव लाय। सुरत डोर लागी रहे, तार टूट ना जाय।।'** रामराज्य का निवासी **'चलहि सदा'**- अहर्निश साधन में अनुरक्त रहता है। **'पावहिं सुखहि'**- वह सुख प्राप्त करता है। सुख है क्या? **नहिं भय सोक न रोग।**- जहाँ भय न हो, शोक न हो, प्रियजनों का वियोग न हो और रोग न हो। भय काल का होता है। यदि साधक निरन्तर इष्ट के निर्देशन में चलनेवाला है तो उसके पथ में भय है ही नहीं, न शोक है न रोग। एक रोग शारीरिक होता है- जैसे फोड़ा हो गया। यह तो शरीर का विकार है। दूसरा रोग है भवरोग, जैसे- **'मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला।'** इत्यादि। रामराज्य के निवासियों को ये भवरोग नहीं होते।

जिस दिन से परमात्मा हृदय से रथी हो जाते हैं, भजन पढ़ाने लगते हैं, उसी क्षण से भजन की शुरुआत हो जाती है। समझ लें उसका प्रवेश हो गया। कैसा भी कोई विद्वान् क्यों न हो, पीएच.डी. का गाइड ही क्यों न हो, शिशु कक्षा के छात्र को पीएच.डी. की शोध नहीं पढ़ाएगा। उसे तो वह अक्षर-ज्ञान से आरंभ करेगा कि 'क' ऐसे लिखो। साधक यदि आरंभिक स्तर का है तो भगवान् भी उसे वहीं से बताते हैं- कर सेवा, बैठ, उठ! वे उसे वहीं से शुरू करके, उसका क्रमशः उत्थान करते हुए, उसका वर्ण-परिवर्तन कराते हुए वर्णों से पार कर देते हैं। साधक का काम है अपौरुषेय वाणी इष्ट के निर्देशन को समझे और निरन्तर लगे।

इस भगवत्पथ में बीज का नाश नहीं है, आरंभ का उन्मूलन नहीं है। एक बार साधना जागृत हो गई तो बीच में कहीं कोई रुकावट है ही नहीं। इसलिए रामराज्य में **'अल्प मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा।'** संसार में अल्पमृत्यु का अर्थ है अल्पायु में मरना, जैसे कभी-कभी बच्चे काल कवलित हो जाते हैं; किन्तु राम के राज्य में ऐसा नहीं होता। जहाँ साधना जागृत हुई, अंकुर फूट गया, दो पत्ती दिखायी दे गयी तो माया में ऐसी कोई शक्ति नहीं कि उसे कुचल दे। वह वृक्ष होगा, फलेगा, मिलेगा। यदि आपने श्वास के रहते-रहते ईश्वर-पथ में दो कदम रख दिया, अगले जन्म में तीसरा

ही कदम रखेंगे और दो-चार जन्मों के अन्तर से आप अपने को वहीं पायेंगे जो राघवेन्द्र सरकार का स्वरूप परमधाम है। अतः **'अल्प मृत्यु नहिं'**– भजन जागृत हो गया तो अल्पमृत्यु है ही नहीं। वह तो लक्ष्य को दिलाकर, स्वरूपस्थ करके ही दम लेगा। **'नहिं कवनिउ पीरा'**– भगवान् की अपौरुषेय वाणी को सुनकर निरन्तर चलनेवाले को कोई पीड़ा नहीं होती। पीड़ा तो तब है जब भजन में किसी प्रकार मन नहीं लगेगा। पीड़ा तो तब है जब हम भजन छोड़कर बाहर झाँकेंगे। मन ऐसा यन्त्र है जो कभी छुट्टी लेता ही नहीं। कदाचित् आपने इसे भजन से छुट्टी दे दी, यह माया में कार्य करेगा और ऐसा कुछ गढ़कर रख देगा जो आपकी पीड़ा का कारण होगा। पीड़ा हमें तब मिलती है जब हम भजन में लापरवाह होते हैं; किन्तु इष्ट की आज्ञा पर निरन्तर चलनेवाले पथिक के लिए **'अल्पमृत्यु नहिं कवनिउ पीरा।'**– कोई पीड़ा नहीं रहती।

'सब सुन्दर सब बिरुज सरीरा।'– राम के राज्य में सब सुन्दर थे। क्या काना, कुबड़ा, त्रिबंका कोई था ही नहीं? क्या वृद्ध, युवक, बच्चे सब एक जैसे सुन्दर थे? ऐसा कुछ नहीं! चिन्तन की नियत विधि से आप ज्यों-ज्यों लगेंगे, ईश्वरीय आभा आप में उतरती चली जायेगी। आप प्रभु का प्रतिबिम्ब पाते जायेंगे। वही आपका सौन्दर्य है। शरीर में भला कौन सौन्दर्य है? शरीर आप हैं भी तो नहीं। शरीर तो कुछ दिनों के लिए हमें पड़ाव मिला है, इसे सुन्दर और असुन्दर कहने और बनाने में आप अपना बहुमूल्य समय क्यों नष्ट कर रहे हैं? करोड़ों प्रयत्नों के बाद भी इसे मिट जाना है। रामकृष्ण परमहंस, शंकराचार्य इत्यादि अल्प आयु में ही चले गये। शरीर की सुन्दरता हमारा लक्ष्य नहीं है। यह तो **'साधन धाम मोच्छ कर द्वारा।'**– साधना के लिए है। मानव तन मुक्ति का दरवाजा है। यह मिला है साधना करने को। **'सब बिरुज सरीरा'**– ज्यों-ज्यों आप इस पथ पर चलेंगे काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि मानस रोग घटते जायेंगे, आरोग्य रूप प्राप्त होता जायेगा, जो आपका सहज रूप है।

'नहिं दरिद्र कोउ'– ईश्वर-पथ में कोई दरिद्र होता ही नहीं। हाथ में कमण्डल, एक डंडा कौन-सी अमीरी है? वास्तव में आत्मिक सम्पत्ति ही स्थिर सम्पत्ति है। अपौरुषेय वाणी को जिसने सुना, समझा, निरन्तर लगा। वह ज्यों-ज्यों लगेगा आत्मिक सम्पत्ति उसमें उतरती जायेगी, ईश्वरीय विभूति उतरती जायेगी, उससे वह सदा समृद्ध रहेगा। **'नहि कोउ अबुध'**– वह प्रबुद्ध है। उसे किसी से पूछने की जरूरत नहीं है। उसके अन्दर जानकारी स्वतः उतरती जा रही है। वहीं से वह समझता है और चलता है। ईश्वर-पथ के पथिक में जो भी लक्षण चाहिए, सब रामराज्य के निवासियों में हैं।

सब गुनग्य पण्डित सब ज्ञानी। सब कृतग्य नहिं कपट सयानी।।

सब गुणों की खान, सब पण्डित और सभी ज्ञानी। शूद्र भी पण्डित, वैश्य भी पण्डित, क्षत्रिय और ब्राह्मण भी। वह जिस श्रेणी का है, उसकी साधना कैसे करे- इसकी अनुभूति उसके साथ है; क्योंकि यह वेद-पथ है। वेद कहते हैं जानकारी को। जो परमात्मा अविदित है, अदृश्य है क्रमशः उसका विदित होना वेद कहलाता है। प्रभु स्वयं समझायें तभी समझ में आता है। भगवान् बताते हैं कि तुम कहाँ हो। शूद्र श्रेणी है तो उसी स्तर से, वैश्य श्रेणी है तो उसी स्तर से, संघर्ष झेलने की क्षमता है तो उसी स्तर से। इसलिए चारों गुणज्ञ हैं, साधना का सभी को पूर्ण बोध है। सब ज्ञानी हैं। **'सब कृतग्य नहिं कपट सयानी।'** थोड़ा भी उपकार करनेवाले का प्रत्युपकार करने को तत्पर। रामराज्य के इन साधकों में कपट नहीं होता, धोखाधड़ी-धूर्तता कभी हो ही नहीं सकती। **'सब ज्ञानी'** का लोग अर्थ लेते हैं कि किसने कितना अध्ययन किया है; लेकिन योग-साधना में ज्ञान का अर्थ केवल इतना ही है कि भगवान् ने आपको क्या पढ़ा दिया, उसे समझें- बस इतना ही ज्ञान है।

गीता, १३/११ में है, **'अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्। एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।।'** अर्थात् आत्मा के आधिपत्य में निरन्तर चलना, भगवान् क्या कह रहे हैं उसे समझना, उसी के अनुसार चलना ज्ञान की शुरुआत है और उन्हीं के निर्देशन में चलते-चलते तत्त्वरूप परमात्मा का प्रत्यक्ष दर्शन तथा उसके साथ मिलनेवाली जानकारी ज्ञान की पराकाष्ठा है तथा इसके विपरीत जो कुछ है सब अज्ञान है। इसलिए राम के राज्य में सभी ज्ञानी हैं।

राजघाट सब विधि सुन्दर बर। मज्जहिं जहाँ बरन चारिउ नर।।

राज का अर्थ लोग क्षत्रिय लगाते हैं, जैसे- कोई क्षत्रिय महात्मा हो गया तो राजर्षि कहेंगे, ब्राह्मण महात्मा को कहेंगे ब्रह्मर्षि, दूसरी जातियों को कौन ऋषि कहेंगे, भगवान् जानें। रामराज्य में यजनपूर्ण स्वर ही सरयू है। आज आप भजन-साधन आरंभ करते हैं तो श्वास से लगना होगा। दस साल से कोई रगड़ रहा है तो भी श्वास का ही भजन कर रहा है। प्राप्ति के समीप पहुँचने पर भी भजन श्वास का ही चलता रहता है। अस्तु, राम के राज्य में घाट एक ही था। भजन करने का तरीका एक ही है। आरंभ में श्वास पकड़ में नहीं आती तो बैखरी और मध्यमा चलती है। जब श्वास पकड़ में आ गयी तो पश्यन्ती और परा का क्रम आता है। साधना के आरंभिक स्तर के साधक ने साधना में प्रवेश ही तो किया है इसलिए अल्पज्ञ है, छोटा है, क्षुद्र है, शूद्र है। वह दस घंटे भजन में बैठेगा फिर भी दस मिनट मन को शान्त

नहीं कर पायेगा, इसलिए वह शूद्र है, वह अल्पज्ञ है। वैश्य श्रेणी का मध्यम साधक पचास प्रतिशत तक की सफलता प्राप्त कर लेता है। उससे उन्नत क्षत्रिय श्रेणी का साधक विकारों को काटते हुए श्वास में पश्यन्ती श्रेणी से लगता है और तीन चौथाई रास्ता तय कर लेता है। जहाँ विकार शान्त हुए, परा में प्रवेश के साथ ब्राह्मण श्रेणी आ जायेगी। चारों वर्णों के लोग इस यजनपूर्ण स्वररूपी सरयू में अवगाहन करते हैं।

वस्तुतः वर्ण योग-साधना के चार सोपान हैं। एक ही भगवत्पथ को चार श्रेणियों में बाँटा गया है। प्रथम चरण में प्रवेश करनेवाला पथिक क्रमशः उत्थान करते-करते चौथी श्रेणी पार कर भगवान् की महिमा पाकर ब्रह्मर्षि कहलाता है। यही कारण है जन्मना ब्राह्मण न होते हुए भी विश्वामित्र, वाल्मीकि, व्यास, कण्व, भरद्वाज, शृंगी सब के सब ब्रह्मर्षि कहलाये। वाल्मीकीय रामायण के अनुसार, राम जब शबरी के पास पहुँचे तो पूछा, ''तुम्हारी तपश्चर्या सुचारु रूप से चल रही है? जिन व्रतों को तुमने अपनाया, उनका निर्वाह तो हो रहा है? गुरुजनों की जो सेवा की, उसका फल तुम्हें मिला?'' शबरी चरणों में गिरकर बोली, ''प्रभु! आज आपके दर्शन से मेरी तपस्या पूर्ण हुई, व्रत पूर्ण हुए और गुरुजनों की सेवा का फल प्राप्त हुआ।'' रामचरितमानस के अनुसार शबरी ने अपना परिचय दिया- **अधम ते अधम अधम अति नारी।**- एक तो अधम कोल-किरात, उसमें अधम नारी और उसमें मैं अनपढ़ मतिमन्द हूँ। राम ने कहा, ''शबरी! मैं केवल भक्ति का नाता मानता हूँ। चराचर जगत् में कोई भी हो, नारी-नर अथवा नपुंसक ही क्यों न हो, जो भी मुझे सर्वभाव से भजता है, मुझे परमप्रिय है। भक्ति के नौ अंग हैं। **प्रथम भगति संतन्ह कर संगा।**...... इत्यादि। इनमें से एक भी जिसके पास है, मुझे परमप्रिय है। तुम्हारे पास तो भक्ति नौ अंगों से परिपूर्ण है। तुम मेरे धाम जाओ।'' यदि आप अब भी यह मानते हैं कि शूद्र को भजन का अधिकार नहीं है तो क्या शूद्रिन को भजन करने का अधिकार है? राम के राज्य में शूद्र हैं अवश्य लेकिन वेद के प्रकाण्ड विद्वान्, शूद्र हैं अवश्य लेकिन धनवान, शूद्र हैं अवश्य लेकिन पण्डित, शूद्र हैं अवश्य लेकिन साथ-साथ स्नान करनेवाले। क्या है शूद्र? यदि हमारा भजन ही जागृत नहीं है, अपौरुषेय वाणी नहीं उतरती और उसको समझकर **'चलहिं सदा'**- सदा उस पर चलने की प्रवृत्ति नहीं आयी तो हम शूद्र भी नहीं, जड़ जीव मात्र हैं।

।। ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान् की जय।।

शम्बूक

विश्व को एकता दी तो भारत ने। सर्वप्रथम वैदिक महर्षियों ने उद्घोष किया, **'शृण्वन्तु विश्वेऽमृतस्य पुत्राः'**- हे सम्पूर्ण विश्व के मानव! तुम अविनाशी के पुत्र हो। एकता का यह सूत्र विश्व में अन्यत्र कहीं नहीं था; किन्तु आज संसार में फूट में जीनेवाला कोई देश है तो भारत। बुद्धिजीवियों ने यहाँ की भोली-भाली जनता को आपस में लड़ाकर उनका कचूमर निकाल दिया। उन्होंने कह दिया कि यह तेली है, वह कुम्हार है, ठाकुर है या ब्राह्मण है। ऐसी फूट पूरे भारत में कभी नहीं थी। आज लोग अवर्ण-सवर्ण की लड़ाई लड़ रहे हैं, अगड़ी और पिछड़ी जातियों के आरक्षण में बिखरे हैं। ऐसा यहाँ कभी नहीं था। काशी में एक वरिष्ठ नेताजी बोल रहे थे, ''राम को मैं इसलिए दोष देता हूँ कि हमारे श्री शम्बूक जी का उन्होंने वध क्यों कर दिया?'' हजारों लोग आए दिन मारे जाते हैं। अभी मद्रास में एक घटना घटी, वहाँ सम्भवतः हरिजन अधिक मारे गये, किसी ने उनसे नहीं पूछा कि लड़कों को रोटी मिली या नहीं? और यहाँ कई लाख वर्ष पहले कोई घटना घट गयी तो हाय हमारे शम्बूक जी! वे उस घटना को याद कर रहे हैं केवल फूट डालने के लिए। इन लोगों को शास्त्र का ज्ञान नहीं है और हो भी नहीं सकता।

शास्त्र में लिखा है कि **'जानहिं यह चरित्र मुनि ग्यानी।'** गोस्वामी जी ने रामचरितमानस लिखा तो यह भी निर्णय दिया कि इसे समझने की क्षमता किनमें है? जिनमें क्षमता पायी गयी, उनका नाम लेकर बताया कि इस शुभ चरित्र को वही जानेंगे जो मुनि हैं, ज्ञानी हैं। **'यह शुभ चरित जान पै सोई। कृपा राम की जा पर होई।।'** अथवा वह भी जान सकेंगे जिन पर राम की प्रत्यक्ष कृपा है। सब नहीं जान सकते। अभी चुनावों के गर्मागर्म माहौल में कतिपय नेता रामजी को इस प्रकार सम्बोधित कर रहे थे मानो वे उनके चाचा या पड़ोसी रहे हों। उनके शब्द थे कि मैं राम को दोष देता हूँ। वाह! रावण भी इसी प्रकार बोलता था, तो क्या ये मुनि या ज्ञानी की श्रेणी में हैं।

भगवान् राम के काल में मनुष्यों में दरार डालनेवाली आज की प्रचलित जातियाँ थीं ही नहीं। वर्ण योग-साधना के चार सोपान हैं। यदि हमें योग-साधना का ज्ञान नहीं है, क्रिया समझकर दो कदम हमने नहीं रखा तो हम चार वर्णों में से किसी श्रेणी के नहीं हुए। साधना में प्रवेश के पश्चात् ही ये उपलब्धियाँ हैं। शूद्र तो भाग्यवान् बन पाता है, जिसने साधन समझकर चलना आरम्भ कर दिया हो। क्रिया

समझना ही पर्याप्त नहीं है, चलना भी है। मनुष्यों के बँटवारे का नाम वर्ण था ही नहीं। कदाचित् ऐसा होता तो कोई तो ब्रह्मर्षि शुक्ला, तिवारी, पाण्डेय जी, दूबे जी या मिश्रा जी में से होता। उस युग में एक भी ब्रह्मर्षि परिवार में उत्पन्न नहीं हुआ। उस काल के जितने भी ब्रह्मर्षि हुए हैं, कुछ तो यत्र-तत्र पड़े मिल गये। कतिपय सुलक्षणाएँ रास्ता भटक गयी होंगी, जैसे- कुन्ती ने परिस्थितिवश कर्ण का परित्याग कर दिया था। इसी प्रकार शृंगी ऋषि मृगों के एक झुण्ड में पड़े मिले थे। माण्डव्य ऋषि की दृष्टि पड़ी तो उस बच्चे का पालन किया, उसे ब्रह्म-चिन्तन की विद्या बतायी। वे ब्रह्मर्षि हुए। इन्हें ब्रह्मर्षि बनने के लिए सामाजिक कुलीनता का कोई सहयोग नहीं मिला है। वृहस्पति और उतथ्य की संतान भरद्वाज ऋषि नदी में मंजूषा में बहते हुए मिले। वरुण ने वह मंजूषा पकड़ लिया। प्रतीत होता है कि उस युग में केवटों की पवित्र जाति वरुण रही होगी। अस्तु, वरुण ने पालन-पोषण किया। भरद्वाज अत्यन्त प्रतिभासम्पन्न निकले।

उस समय आर्यावर्त में महाराजा भरत का शासन था। उन्होंने अपने किसी भी पुत्र में शासन की क्षमता न देख भरद्वाज को गोद ले लिया, उनका राज्याभिषेक कर दिया। भरद्वाज जी संस्कारी पुरुष थे। सब कुछ त्यागकर वे प्रयाग के प्रख्यात ऋषि हुए। इसी क्रम में ब्रह्मर्षि वशिष्ठ उर्वशी के पुत्र थे, नारद दासी-पुत्र थे, वाल्मीकि कोल-किरात थे। विश्वामित्र जी विश्वरथ नामक क्षत्रिय नरेश थे। उन्होंने वशिष्ठ जी से भीषण युद्ध किया। अन्ततः वह बोले, ''क्षात्रबल को धिक्कार है, ब्रह्मबल ही वस्तुतः बल है। मैं ब्रह्मवर्चस् प्राप्त करूँगा।'' वह तपस्या में संलग्न हो गये। भगवान् द्वारा ली गयी परीक्षा में तीन बार अपने को असफल पाकर उन्होंने भगवान् से अनुग्रह की याचना की और सफल हो गये।

इस प्रकार जितने भी ऋषि, महर्षि और ब्रह्मर्षियों का इतिवृत्त मिलता है आज की भाषा में सब के सब अस्पृश्य वर्ण से थे। महर्षि अगस्त्य भी घड़े में मिले थे। यह परम्परा द्वापर तक चली। वेदव्यास कुँआरी कन्या के पुत्र थे। उस युग में उनसे बड़ा ब्रह्मर्षि कोई नहीं था। यदि जातिगत वर्ण होता, तो कोई तो ब्रह्मर्षि तिवारी, उपाध्याय में से निकलता? एक भी तो नहीं निकला। इससे स्पष्ट है कि सामाजिक जातियाँ नहीं थीं। मनुस्मृति आज की कलियुगीन व्यवस्था देती है कि ब्राह्मण परिवार में जन्म लेनेवाला ही ब्रह्मर्षि हो सकता है। क्षत्रिय राजर्षि तो हो सकता है ब्रह्मर्षि नहीं हो सकता। वैश्य भजन करे किन्तु ऋषि नहीं हो सकता, जबकि पूर्ववर्ती ब्रह्मर्षि सब के सब आज के शिड्यूल कास्ट (अनुसूचित जाति) से ही थे। उस समय तो यह

व्यवस्था थी ही नहीं। **बड़ें भाग मानुष तनु पावा।**- बड़े भाग्यवान् मानव तन ही थे; किन्तु आज के तो अनुसूचित जाति ही थे।

महर्षि बाल्मीकि के लिए रामचरितमानस में आता है कि **'उलटा नामु जपत जगु जाना। बालमीकि भए ब्रह्म समाना।।'** उल्टा नाम जपकर वाल्मीकि जी ब्रह्म के समानान्तर स्थिति पा गये। इसी चौपाई के ठीक नीचे उनका परिचय देते हुए गोस्वामी जी लिखते हैं-

स्वपच सबर खस जमन जड़, पावँर कोल किरात।
नाम लेत पावन परम, होत भुवन विख्यात।।

कोल-किरात वंश में दस्यु रत्नाकर को सन्तों का सान्निध्य प्राप्त हुआ। पहले तो वे लूटने को ही झपटे किन्तु उन महापुरुषों की कृपा से साधना समझ में आयी। साधना हृदय में घर कर गई और वे ब्रह्मर्षि के रूप में प्रतिष्ठित हुए। वन-गमन के समय भगवान् राम ने अनेक ऋषियों के दर्शन किये। अनेक ऋषियों ने राम के चरणों में नमन किया। कहीं-कहीं भगवान् राम ने सादर नमन किया, कहीं हाथ उठाया, कहीं सिर झुकाया, कहीं मस्तक टेका; किन्तु कुछ विभूतियाँ ऐसी भी थीं कि जहाँ भगवान् राम ने साष्टांग दण्डवत् किया। उदाहरणार्थ- वाल्मीकि जी के लिए है कि **'मुनि कहँ राम दण्डवत कीन्हा। आसिरवादु विप्रवर दीन्हा।।'** उन विप्र शिरोमणि ने आशीर्वाद दिया। क्या वाल्मीकि ब्राह्मणगोत्रीय थे? एक भी ऐसा महापुरुष ब्रह्मर्षि नहीं है जिसके ब्रह्मर्षित्व में जातिगत कुलीनता का सहयोग हो।

सारांशतः राम के काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामक सामाजिक जातियाँ थीं ही नहीं और न इनका निर्धारण जन्मना होता था। यह साधना की आन्तरिक क्षमताओं का नामकरण था। जिस प्रकार आजकल आई.ए.एस., पी.सी. एस. का चयन है, उसी प्रकार साधनात्मक प्रशिक्षण का आरंभिक चरण शूद्र है। यह भजन की प्राथमिक सीढ़ी है। करोड़ों में से कोई भाग्यवान् इस सोपान पर आरोहण करता है।

रामराज्य में एक शूद्र भूल कर बैठा। उसका नाम शम्बूक था। वह एक वृक्ष की शाखा में शिर नीचे और पैर ऊपर कर तपस्यारत था। उसने इस तरह तपस्या आरम्भ की कि ब्राह्मण बालक मर गया। रामराज्य में तहलका मच गया कि यह हुआ कैसे? ऋषि-महर्षियों ने खोजना शुरू किया। अनुमान किया कि कोई शूद्र तपस्या कर रहा है; किन्तु वे उसे देख नहीं पाये। राम ने उसे खोज निकाला और उससे पूछा- क्या कर रहे हो? शम्बूक बोला कि मैं सदेह धाम जाना चाहता हूँ अर्थात्

शरीर रहते स्वरूप को पाना चाहता हूँ। राम आपका कल्याण हो। मैं शूद्र हूँ। राम ने तलवार निकाली। उसे पेड़ से गिरा दिया। शम्बूक के शिरोच्छेदन के साथ ही वह ब्राह्मण बालक जी गया। देवताओं ने दुन्दुभियाँ बजाईं। बिगड़े हुए धर्म की पुनर्स्थापना हो गयी।

क्या सर्जरी थी! ऐसा इलाज तो कभी सुना नहीं गया। न जाने कब का मरा ब्राह्मण बालक जी गया। क्या ऐसा सम्भव है कि आपका गला काट दें और दूसरा जीवित हो जाय? शूद्र को मार दें और ब्राह्मण पुनर्जीवित हो जाय? आपके यहाँ कोई पण्डित दिवंगत हो गया हो तो एक शूद्र मारकर देख सकते हैं कि वह जीवित होता है या नहीं? वास्तव में क्या है यह शम्बूक प्रकरण?

वस्तुतः रामायण या रामचरित मानस रहस्यमय ग्रन्थ है। इसके सभी कथानकों के अर्थ (प्रत्यक्षतः) अभिधा में खोजेंगे तो आप भटकते रह जायेंगे। उदाहरण के लिए, रामायण में है कि सीता की शुद्धता की परीक्षा के लिए उन्हें अग्नि में डाला गया। अग्नि शान्त होने पर वही सीता बाहर निकल आयीं। आज भी आप इस विधि का प्रयोग कर देखें। क्या कोई इस विधि से जीवित रह सकता है? लोग कहते हैं राम ने नरलीला की अर्थात् प्राकृत आदमी जैसा करते हैं वैसा आचरण किया। तब तो यह सामान्य मनुष्य के लिए सम्भव है। आप शुद्धता की परीक्षा में कुँआरी कन्या को ही अग्नि में डालकर देखें। जब वह लौटकर आ जाय तो प्रायः सभी मान लेंगे। क्या है सीता की अग्नि-परीक्षा?

सीता की अग्नि-परीक्षा, शम्बूक प्रकरण आध्यात्मिक रूपक हैं। शास्त्र दो दृष्टियों से रचा जाता है। एक, इतिहास को कायम रखना जिससे लोग पूर्वजों के पदचिन्हों पर चल सकें, आदर्श जीवन जी सकें। किन्तु कुशलतापूर्वक जी-खा लेने से, आयु के दिन पूरे कर लेने से हम सबका कल्याण सम्भव नहीं है, कर्त्तव्यों की पूर्ति नहीं है इसलिए शास्त्र में दूसरा पहलू है अध्यात्म। हर जीव माया के आश्रित है। इसे माया के चंगुल से निकालकर जो आत्मा की अधिकृत भूमि में खड़ा कर दे, भगवान् उठायें-बैठायें, चलायें-सिखायें- उसका नाम अध्यात्म है। पूरी की पूरी रामायण अध्यात्म है। इसका दूसरा नाम रामचरित मानस है। मानस कहते हैं अन्तःकरण को। अतः इसमें अन्तःकरण की वृत्तियों का चित्रण है। रामचरित अर्थात् राम का चरित्र। कौन-सा चरित्र? अयोध्या में जन्म, लंका में युद्ध, वनवास, पृथ्वी पर जो घटना कभी घटित हुई थी वह? नहीं, मानस कहते हैं मन को, अन्तःकरण को। राम के वे चरित्र जो आपके अन्तःकरण में प्रवाहित हैं। वे हैं सबमें किन्तु दिखायी नहीं देते। आये दिन

लोभ के चरित्र, मोह के चरित्र, काम के चरित्र, क्रोध के चरित्र ही दिखाई देते हैं। अब वे प्रसुप्त रामचरित किस प्रकार आपके अन्तःकरण में जागृत होते हैं, जागृत होकर किस प्रकार रामपर्यन्त दूरी तय कराते हैं, राम की स्थिति आपको दिला देते हैं, वहाँ तक का साधन-क्रम इस रामायण में अंकित है। साधना पकड़ी ही नहीं तो श्रेणी किसने दी?

शम्बूक प्रकरण में भगवान् राम न्यायकर्ता थे। अवध के सुख को त्यागकर भगवान् के साथ छाया की तरह चलने वाले, राम के शयन करने पर भी जगकर प्राणपण से सेवा में तत्पर लक्ष्मण एक दिन न्याय की तुला पर चढ़ गये तो राम ने ऐसे लक्ष्मण का भी त्याग कर दिया। स्वजनों का त्याग मृत्युदण्डतुल्य होता है। लक्ष्मण ने सरयू तट पर अठारह दिनों के उपवास के अनन्तर इहलीला का संवरण कर लिया। इसी प्रकार अवध साम्राज्य के वैभव को त्यागनेवाली, प्रतिबिम्ब की तरह अनुवर्तिनी, स्वर्णमयी लंका को तुच्छ समझनेवाली तथा अग्नि-परीक्षा में खरी उतरने वाली सीता-जैसी सहधर्मिणी भी न्याय की कसौटी पर आयी तो राम ने जनहित पर ही ध्यान दिया। इतना ही नहीं, उन्होंने अपने आपको भी दण्डित किया। संसार के एकमात्र सम्राट भगवान् राम न्यायपीठ का सम्मान करने के लिए सिंहासनासीन हो जाते थे अन्यथा वे कुश की चटाई का ही प्रयोग करते थे। उनकी मान्यता थी कि यदि सीता पर्णशय्या पर शयन करती हैं तो उन्हें भी मसृण शय्या के उपयोग का कोई अधिकार नहीं है। राम ने तो कुत्ते के आरोप पर एक तपस्वी को दण्डित किया था। इतने न्यायप्रिय सम्राट के लिए क्या यह उचित होता कि प्रजा में किसी एक ने भूल कर दी तो उसे छाती से लगाते? क्या न्यायाधीश भी पक्षपात करता है?

क्या रामराज्य में आज की तरह आरक्षण व्यवस्था थी? नहीं, राम के राज्य में केवल एक आरक्षण था- सर्वांगीण सुख और अक्षय धाम। आज एक को आरक्षण देते हैं तो दूसरा खून के आँसू रोता है। रामराज्य में ऐसा नहीं था- **'नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना।।'** राम के राज्य में दरिद्र कोई नहीं था, सभी समृद्ध थे। दुःखी कोई नहीं था। सभी प्रबुद्ध थे, अशिक्षित कोई नहीं था तो कोटा कैसा? आरक्षण का प्रश्न तो तब उठता जब किसी के यहाँ कोई कमी होती। उस युग-जमाने में एक भी ब्रह्मर्षि आज की तथाकथित सामाजिक कुलीनता तथा गौरव से अलंकृत जातियों से नहीं आया तो सिद्ध है कि राम के काल में बाहर समाज में वर्ण-व्यवस्था के नाम पर मनुष्य का विभाजन नहीं था। जब बाहर वर्ण थे ही नहीं, तो राम ने किस शूद्र को मारा? स्पष्ट है कि शम्बूक के प्रश्न का कोई

सामाजिक सन्दर्भ अथवा भौतिक धरातल नहीं है। विचारणीय है कि रामायण के शम्बूक प्रकरण का आशय क्या है?

शम्बूक का अर्थ है समत्व की वृत्ति का स्वाँग करनेवाला। शूद्र साधना का प्रथम चरण है। वह अल्पज्ञ होता है। वह दस घंटे आँख मूँदता है फिर भी दस मिनट अपने पक्ष में नहीं पाता। ऐसी स्थिति में वह व्यर्थ आँख मूँदता है। जब भजन नहीं हो रहा है तो वह ध्यानस्थ होकर कर क्या रहा है? केवल आँख मूँद लेने से भजन तो नहीं होता। तब समय क्यों नष्ट करते हो? हम भजन शुरू कहाँ से करें? गीता में है, **'परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्। (१८/४४)'** उसके ज्ञाता हों, तत्त्वदर्शी हों, ऐसे महापुरुषों की सेवा से योग्यता आपके अन्दर स्वतः प्रसारित हो जायेगी। विधि जागृत होने पर उत्तरोत्तर उन्नत श्रेणियों में प्रवेश मिल जाता है।

अल्पज्ञ श्रेणी का साधक भूल करता है। **'सोचिय शूद्र विप्र अवमानी। मुखर मान प्रिय ज्ञान गुमानी।।'** ऐसा शूद्र शोचनीय है जो मुखर अर्थात् वाचाल (विकट प्रवक्ता), मान-सम्मान प्रिय, ज्ञान का दम्भ भरनेवाला, विप्र का अपमान करनेवाला हो। शूद्रत्व काल में ये दोष आ जाते हैं। महर्षि काकभुसुण्डि का प्रथम जन्म, जिसमें आत्मिक जागृति हुई, शूद्र-तन था। साधना में प्रवेश तो मिला लेकिन गुरु जी से द्वेष कर बैठे। महर्षि काक ने अपना परिचय दिया, **'धन मद मत्त परम बाचाला। उग्र बुद्धि उर दंभ बिसाला।।'**- मेरी बुद्धि बड़ी प्रचण्ड थी, उर में भारी दम्भ था। **'हरिजन द्विज देखे जरउँ, करउँ विष्णु कर द्रोह।'** एक बार गुरु महाराज आए। मैं शिवनाम जप रहा था। दम्भवश मैंने उठकर गुरुदेव को प्रणाम नहीं किया। जिस भगवान् के वे सेवक थे, वह आत्मा ही शत्रु हो गयी। शाप मिला- ''रे पापी! अजगर की तरह बैठा रह गया। जा अजगर हो जा।'' अस्तु, शूद्र भूल करता है। अन्य श्रेणियों के साधक (वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण) कभी भूल नहीं करते। वहाँ माया धोखा दे सकती है, बलात्कारिक विघ्न आ सकते हैं, साधक भूल नहीं करता। यहाँ शूद्र स्तर पर भूल स्वाभाविक है।

राम के राज्य में अर्थात् भगवान् जब आत्मा से रथी हैं, उस स्थिति में जो साधना में प्रवेश पा चुका है, ऐसा साधक है तो शूद्र किन्तु शम्बूक अर्थात् समत्व की वृत्ति का आश्रय ले लेता है। वह वृक्ष में उलटा टँगा था। **'संसार विटप नमामहे'**, **'ऊर्ध्वमूलमधःशाखम्'**- ऊपर परमात्मा जिसका मूल और कीट-पतंगपर्यन्त प्रकृति जिसकी शाखा-प्रशाखाएँ हैं, ऐसा संसार एक वृक्ष है। वह शम्बूक संसार-वृक्ष में, गर्भवास में उलटा लटका है। वह है अल्पज्ञ लेकिन स्वाँग भरता है पूर्णत्व वालों का।

शम्बूक समत्व की वृत्ति का स्वाँग कर रहा है। ऐसा करते ही ब्राह्मण बालक मर गया, हृदय में जो ब्रह्म-चिंतन आंशिक रूप से जागृत हुआ था वह प्रसुप्त (कुण्ठित) हो गया, न जाने वह कब मर गया। ब्रह्म-चिंतन, भजन बन्द हो गया। ऋषियों ने अनुमान लगाया किन्तु जाना नहीं। इस कमी को बाहर कोई जान नहीं सकता कि कौन ढोंगी है, कौन सही है? किन्तु राम ने उसे खोज लिया क्योंकि वह अन्तःकरण से, आत्मा से रथी हैं। त्याग ही तलवार है। जहाँ भगवान् ने त्याग के द्वारा, अपौरुषेय प्रेरणा के द्वारा उसे नीचे गिराया, वह ब्राह्मण बालक जीवित हो गया। दैवी वृत्तियाँ उसमें पुनः प्रवाहित हो गयीं। देवता दुन्दुभि बजाने लगे। ब्रह्मचिन्तन पूर्ववत् होने लगा।

इस प्रकार रामायण में एक सींक रखने की भी जगह नहीं है जहाँ कोई प्रश्न कर सके, न ही भेदभाव है, न छुआछूत है फिर भी लोग आक्षेप करते हैं कि हमारे शम्बूक को क्यों मार दिया? भगवान् राम ने अपने जीवनकाल में जिनका उद्धार किया उनमें था केवट अधम, शबरी अधम, बानर-भालू अधम, असंख्य अपार निशाचर अधम। एक भी ब्राह्मण, एक भी क्षत्रिय को भगवान् ने नहीं तारा। रामायण में तो उल्लेख नहीं है। राम ने अपार, अरबों अधमों को तारा, एक थाली में खिलाया, उनके जूठे बेर खाये, अपने धाम भेज दिया, उसके लिए किसी ने राम को धन्यवाद तक नहीं दिया और लाखों वर्ष पूर्व कोई एक मर गया तो हाय हमारे बाबा श्री शम्बूक जी! यहाँ कहाँ रखा है उनका बाबा? यह तो योग-साधना के रूपक हैं।

रही जातियाँ और उनके औचित्य का प्रश्न! यह जाति-पाँति हमारे पूर्वजों की गौरव-गाथा है। हमारे पूर्वजों ने ऊँचा से ऊँचा कृत्य किया, ये उसी के सम्मान-पत्र हैं। किसी पूर्वज ने दो वेद पढ़ा तो द्विवेदी, कोई त्रिवेदी तो कोई चतुर्वेदी। पूरा भारत ऋषियों की सन्तान है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। जातियाँ तो कारोबार के नाम हैं। किसी ने लोहा सुधारा तो लुहार, सोना सुधारा तो सुनार, चमड़ा सुधारा तो चमार, पोथी पढ़ा तो पण्डित, शस्त्र धारण किया तो क्षत्रिय। कुछ दिनों में गाड़ी चलाने वालों को ड्राइवर या इसी तरह इंजीनियर और डॉक्टरों की जाति बन सकती है। यह धन्धों की पहचान है, धर्म नहीं। लोग अपने बच्चों के नाम गुड्डू, चुन्नू रखते ही हैं किन्तु नाम न रखकर कहें, 'लड़कों आओ', तो सभी दौड़ पड़ेंगे। यह बच्चों को अलग-अलग पुकारने का तरीका है। वंश, कबीला, गोत्र, जाति इस सम्बोधन के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। धन्धे धर्म नहीं हो सकते किन्तु समाज में एक भ्रान्ति ऐसी आयी कि कुछ लोग कहने लगे कि जातियाँ सनातन हैं, भगवान् की बनाई हुई हैं।

लोगों को विचार करना चाहिए कि सनातन है क्या? सनातन केवल आत्मा है।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।।

धर्म क्या है?

सोइ सर्बग्य गुनी सोइ ग्याता। सोइ महि मण्डित पण्डित दाता।।
धर्म परायन सोई कुल त्राता। राम चरन जाकर मन राता।।
(मानस, ७/१२६/२-३)

वह सर्वज्ञ है, धर्म का मर्मज्ञ है, धर्म का विशेषज्ञ है, ज्ञाता है। कौन? एक परमात्मा राम के चरण-कमल में जिसका मन अनुरक्त है- इतना ही है धर्म। साधना की जागृति के पूर्व हमारे पास अनन्त देवी-देवता हैं लेकिन भजन की जागृति के पश्चात् एक परमात्मा के ही भजन का विधान है। राम, परमात्मा, सनातन, शाश्वत सब एक ही तत्त्व के नाम हैं। विविध दृष्टिकोणों से महात्माओं ने उस प्रभु को समझाने का प्रयास किया है। सद्‌गुरु की शरण गये बिना ईश्वर हृदय से जागृत नहीं होता, भजन की ताला-कुंजी नहीं मिलती। इसलिए यदि भगवान् को जानना है, तो किसी सद्‌गुरु या कैसे भी महात्मा मिलें, उनकी सेवा करें। सेवा के साथ-साथ जो परमात्मा का बोध कराता हो, 'राम' या 'ओम्'- जैसे किसी भी दो-ढाई अक्षर के नाम का जप करें। चलते-फिरते, उठते-बैठते, शौच जाते, पानी पीते, जीवन के हर मोड़ पर नाम याद आये। आधा घंटा-बीस मिनट नियमित बैठकर समय दें। समर्पण और श्रद्धा के साथ निवेदन करें कि प्रभु! जिस घट में आप निवास करते हैं, ऐसे सद्‌गुरु का आप ही परिचय दें। चर्मचक्षुओं से तो हम निर्णय नहीं कर सकते। जहाँ आप और आत्मा के बीच का आवरण जरा-सा हल्का हुआ, संस्कारों का मलावरण विक्षेप धुला, आपकी आत्मा ही बता देगी कि वह बैठे हैं गुरु महाराज! और जब सद्‌गुरु ही मिल गये तो शेष क्या रहा?

सद्‌गुरु मिले जाहिं जिमि संशय भ्रम समुदाय।

अतः माताएँ भजन करें, पुरुष भजन करें। थोड़ा भेदभाव से ऊपर उठें। रामायण न कहती हो तो न उठें। गीता न कहती हो, भगवान महावीर, गुरुनानक की वाणी न कहती हो तो कदापि न उठें, लेकिन कहती है तो उदार बनें। विद्वानों को चाहिए कि छोटी-छोटी कथाओं के स्थान पर गीता पढ़ाएँ। गीता मानव का धर्मशास्त्र है। गीता का ही अनुवाद है- योगदर्शन, गीता का ही अनुवाद है- रामचरितमानस। रामचरित मानस रहस्यात्मक ग्रन्थ है; किन्तु गीता सरल है, स्पष्ट है। गीता में तर्क

नहीं है। संसार का कोई भी व्यक्ति इसकी मान्यताओं पर उँगली नहीं उठा सकता; क्योंकि परवर्ती महापुरुषों ने गीता का ही अनुवर्तन किया है। आप भी विश्व के मानव हैं तो भेद कहाँ? जिस दिन गीता एक धर्मशास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित हो जायेगी, संसार एक सूत्र में बँध जायेगा। एक ईश्वर के उपासक आप आर्यों की संख्या संसार में सबसे अधिक हो जायेगी। इसके लिए आप सबको प्रयत्न करना चाहिए। देखें- 'श्रीमद्भगवद्गीता' का भाष्य 'यथार्थ गीता'।

।। ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान् की जय।।

सरस्वती पूजन

(दिनांक 22 जनवरी, 1999 को पिलिग्रिम्स बुक हाउस, वाराणसी के उद्‌घाटन समारोह में पूज्य महाराज जी द्वारा सरस्वती पूजन के औचित्य की समीक्षा।)

बन्धुओ!

आज बसन्त पंचमी है। यह बसन्त के आगमन का द्योतक है। भारतीय जलवायु में षड् ऋतुओं का समावेश है। ज्येष्ठ और आषाढ़ मास ग्रीष्म ऋतु, श्रावण-भाद्रपद वर्षा ऋतु, क्वार-कार्तिक शरद ऋतु, मार्गशीर्ष-पौष शिशिर ऋतु, माघ-फाल्गुन हेमन्त ऋतु तथा चैत-वैशाख मासपर्यन्त बसन्त ऋतु माना जाता है। इसमें बसन्त को ऋतुराज कहा जाता है, इसलिए बसन्त के स्वागत-पूजन की परम्परा है। इस ऋतु में वनस्पति जगत् पुष्पित एवं पल्लवित होकर फलों से लद जाते हैं, जो यावन्मात्र जीव-जगत् का भरण-पोषण तथा सौन्दर्य है। इसलिए पूर्वजों ने बसन्त ऋतु के पूजन की कामना की। आज वही तिथि है। आज से शनैः-शनैः बसन्त के लक्षण प्रकट होने लगे। आम्रवृक्ष पर यत्र-तत्र बौर आ गये, नूतन किसलय विकसित होने लगे। उल्लास का वातावरण मधु-ऋतु का वैशिष्ट्य है।

संसार के भाग्य में ये सभी ऋतुएँ नहीं हैं। चेरापूँजी में दो ऋतुएँ मात्र हैं- शीत और वर्षा, ग्रीष्म वहाँ है ही नहीं। यही दशा इंग्लैण्ड की है। गर्मियों में दो घंटे के लिए धूप आती है। छतों के ऊपर धूप बिकती है। प्रातः की धूप में ऊष्मा रहती है अतः उसका शुल्क कम तथा मध्याह्न में किरणें प्रखर रहने से अधिक शुल्क देना पड़ता है। अन्य देशों के भाग्य में सब ऋतुएँ कहाँ हैं?

बसन्त ऋतु की पूर्वपूजा बसन्त पंचमी है। शिशुओं के भविष्य निर्माण-हेतु शिक्षा का शुभारम्भ आज की तिथि से किया जाता था इसलिए बसन्त पूजन में सरस्वती पूजन का आयोजन किया जाता है। अब हमें देखना है कि सरस्वती है क्या और उसकी पूजा कैसे की जाय? गोस्वामी तुलसीदास जी ने अत्यन्त सरल शब्दों में भारत की आध्यात्मिक विरासत का चित्रण अपने ग्रन्थ रामचरित मानस में किया है, जिसमें सरस्वती भी है। तीन विभिन्न सन्दर्भों में सरस्वती का क्रिया-कलाप इसमें द्रष्टव्य है। वे स्थल हैं कुम्भकर्ण की तपस्या, राम का राज्याभिषेक तथा राम को वनवास से विरत करने जा रहे भरत को भुलावा देने के लिए।

रावण, कुम्भकर्ण और विभीषण की अपार तपस्या से विधाता प्रसन्न हो गये। रावण ने अभीप्सित लाखों वर्ष की आयु, विश्व-विजय का आशीर्वाद पाया। विभीषण को देखकर विधाता प्रसन्न हो गये। उसने भगवान् के चरण-कमलों में अनुराग की याचना की। कुम्भकर्ण को देखकर विधाता व्याकुल हो गये कि **'जौं एहिं खल नित करब अहारू। होइहि सब उजारि संसारू।।'** यह किसी तरह खड़ा हो जायेगा तो हमारी सृष्टि का विनाश हो जायेगा। उन्हें अपने भक्त की चिन्ता नहीं, अपनी सृष्टि-सुरक्षा की चिन्ता हो गई कि कहीं हमारी सृष्टि चौपट न हो जाय। उसी आशीर्वाद से कुम्भकर्ण की मृत्यु हुई।

सरस्वती का दूसरा प्रयोग राम के राज्याभिषेक के अवसर पर दिखायी देता है। चारों पुत्रों के विवाह, सीता-जैसी पुत्रवधू पाकर चक्रवर्ती सम्राट दशरथ की खुशी का पारावार हिलोरें लेने लगा। **'मानहु परमानन्द समाना'**- परमानन्द के समानान्तर प्रसन्नता छा गई। उन्होंने तुरन्त निर्णय लिया कि कल राम का राज्याभिषेक होगा। राम हर तरह से अब समर्थ हो चुके हैं। जब कौशल्या अम्बा को इसकी सूचना मिली, वह तुरन्त पूजन-गृह में चली गईं। **'पूजीं ग्रामदेवि सुर नागा। कहेउ बहोरि देन बलिभागा।।'** उन्होंने ग्रामदेवियों की पूजा की, सुर अर्थात् सम्पूर्ण देवताओं की पूजा की, नागों की पूजा की और कहा कि यदि राम सकुशल अभिषिक्त हो जायँ तो आप सबको बलिभोग दूँगी।

पहले तो देवताओं को कुछ ज्ञात ही न था कि इस संसार में कहाँ क्या हो रहा है लेकिन आजकल जैसे ग्रामों में ग्रामसेविका होती हैं उसी तरह 'ग्रामदेवी'। प्रत्येक ग्राम्यांचल में एक ग्रामदेवी। जब ग्रामदेवियों ने पूजा पायी, उन्होंने तुरन्त इन्द्र को सूचित किया। देवता घबड़ा गये, शारदा का स्मरण किया-

सारद बोलि विनय सुर करहीं। बारहिं बार पाय लै परहीं।।
विपति हमार विलोकि बड़ि, मातु करिअ सोइ आजु।
राम जाहिं बन राजु तजि, होइ सकल सुर काजु।।

माँ कौशल्या ने निवेदन किया था कि मेरा कार्य हो, देवताओं ने अनुरोध किया कि ऐसा कुछ करें कि देवताओं का काज हो। सरस्वती पीछे हट गयीं। वह बोलीं, मैं ऐसा कर ही दूँ किन्तु आजन्म जो आप-सबकी पूजा में संलग्न थी, उस माता कौशल्या पर क्या बीतेगी? देवताओं ने कहा, **'जीव करम बस सुख दुख भागी। जाइअ अवध देव हित लागी।।'**- ये जीव हैं, कर्मवश दुःख-सुख भोगते ही रहते हैं। आप देवताओं के हित पर ही ध्यान दीजिए, उन्हें भोगने दीजिए।

सरस्वती को उद्यत न देख देवताओं ने दूसरी चाल चली- **'बार बार गहि चरन संकोची। चली बिचारि बिबुध मति पोची।।'** वे बार-बार चरणों में गिरने लगे, चरण स्पर्श करने का ताँता ही लगा दिया। वह संकोच में पड़ गयीं। वह विचार करने लगीं कि देवताओं की बुद्धि कितनी खोटी है? **'ऊँच निवासु नीच करतूती। देखि न सकहिं पराई विभूती।।'**- निवास तो इतना ऊँचा किन्तु बुद्धि कितनी खोटी है। ये किसी को फलते-फूलते देख ही नहीं सकते।

साकेत में सरस्वती ने पदार्पण किया- **'हरषि हृदयँ दसरथ पुर आई। जनु ग्रहदसा दुसह दुखदाई।।'** देवमाता सरस्वती क्या पहुँचीं, दुर्दशा प्रदान करनेवाले सभी कुग्रह मिलकर अयोध्या पहुँच गये। शनिश्चर की साढ़े साती तो सुनी गयी थी लेकिन इसका प्रभाव चौदह वर्षों के लिए था और कौशल्या पर तो जन्म भर के लिए।

अवध जनपद में माता सरस्वती ने दृष्टि-निक्षेप किया। भगवान् राम के आविर्भाव के पश्चात् उत्पन्न एक भी नागरिक के रक्त में दुर्बुद्धि के प्रवेश का प्रश्न ही नहीं उठता था। सरस्वती ने चारों ओर दृष्टिपात् किया। अन्ततः उन्हें सफलता मिली- **'नामु मंथरा मंदमति, चेरी कैकइ केरि। अजस पिटारी ताहि करि, गई गिरा मति फेरि।।'** वह दूसरे जनपद से दहेज में आयी थी। उसकी बुद्धि को भ्रमित किया जा सकता था। वह कैकेयी की दासी थी। सरस्वती उसी की जिह्वा पर विराजमान हो गयीं। अपयश का पिटारा उसे सौंप दिया, उसकी बुद्धि को पलट दिया। वह बेचारी तो पहले से ही मंदमति थी, उस पर सरस्वती की कृपा! वह और भी ऊटपटाँग बकने लगी, "बेटी! कौशल्या बड़ी धूर्त है। तू उसे नहीं जानती। वह तुमसे दासी का काम लेगी। भरत को दास बनाना चाहती हो क्या?"

माता कैकेयी राम में अटूट स्नेह रखनेवाली थी। उसने प्रतिवाद भी किया; किन्तु प्रभाव सरस्वती का था, अन्ततः वह भी झाँसे में आ गयी। राम वन गये। पूजा की थी माँ कौशल्या ने, उन्हें क्या मिला? चौदह वर्षों तक रोने को आँसू नहीं मिला। वैधव्य मिला वह अतिरिक्त। स्त्री के लिए समाज में वैधव्य से बड़ा कोई दुःख नहीं है। देवताओं की पूजा का यह परिणाम निकला। फल-निर्धारण करने में देवताओं का पैमाना देखिये कि ये जीव हैं, कर्मवश दुःख-सुख भोगते ही रहते हैं, आप देवहित को वरीयता दें।

विष जान-बूझकर खायें तो मृत्यु, धोखे से स्पर्श हो जाय तब भी मृत्यु। इसी प्रकार सरस्वती आवाहन करने पर आयें या स्वेच्छा से, जिसके भी कण्ठ पर बैठ जायँ, उसका तो मंगल ही मंगल होना चाहिए लेकिन जिस गरीब मंथरा के कण्ठ पर

वह विराजमान हुईं उसकी दशा देखें- **'कूबर टूटेउ फूट कपारू। दलित दसन मुख रुधिर प्रचारू।।'** उसका कूबड़ टूट गया, मस्तक फट गया, दाँत गिर पड़े, रक्त का वमन करने लगी। उस गरीब की नौकरी भी लगता है छूट गयी; क्योंकि इस दुर्घटना के पश्चात् मानस में मन्थरा का कहीं नाम नहीं सुनायी पड़ता। सरस्वती जिसके कण्ठ पर बैठें उसकी यह दुर्दशा। अन्ततः मानसकार कहना क्या चाहते हैं?

सरस्वती का स्मरण देवताओं ने वहाँ भी किया, जब भरत राम को मनाने चित्रकूट की ओर चले- **सुरन्ह सुमिरि सारदा सराही। देवि देव सरनागत पाही।।** देवताओं ने स्मरण किया, शारदा प्रकट हो गयीं। उनकी प्रशंसा करने लगे- ऐसा कौन-सा कार्य है जो आप न कर सकें। विनयसहित देवताओं ने कहा- सभी आपकी शरण हैं, कृपया ध्यान दें। **'फेरि भरत मति करि निज माया। पालु बिबुध कुल करि छल छाया।।'-** आप अपनी माया फैलाकर भरत की बुद्धि भ्रमित कर दें, जिससे राम और भरत से भेंट ही न हो सके। इस प्रकार देवताओं के कुल पर छल से छाया करें। सरस्वती पीछे हट गयीं। **'मो सन कहहु भरत मति फेरू। लोचन सहस न सूझ सुमेरू।।' (मानस, २/२९४)** मुझसे कहते हैं कि भरत की बुद्धि फेर दूँ। आप सहस्राक्ष कहलाते हैं; किन्तु आपको सुमेरु पर्वत नहीं दिखायी देता। भरत में सुमेरु-जैसी कौन-सी गरुता थी? **भरत हृदयँ सियराम निवासू। तहँ कि तिमिर जहँ तरनि प्रकासू।।-** भरत के हृदय में सीता और राम का निवास है। क्या वहाँ भी अंधकार फैलाया जा सकता है जहाँ सूर्य सम्पूर्ण कलाओं से उद्भासित हो? सरस्वती ने भरत को सादर नमन किया और लौट गयीं।

अब देवताओं के पास जितनी सामर्थ्य थी, उसका प्रयोग किया। भय, भ्रम, त्वरा और उच्चाटन फैलाया; किन्तु भरत, वशिष्ठ, विश्वामित्र, जनक इत्यादि महानुभावों को विदित भी नहीं हुआ कि कहीं कोई षड्यन्त्र भी है- **'हरि भक्तन के पास न आवे, भूतप्रेत पाखण्ड।'** जादू-टोना, तंत्र-मंत्र किंवा सरस्वती भी उसकी बुद्धि भ्रमित नहीं कर सकती। इस प्रकार तीन अवसरों पर हम सरस्वती का प्रवेश देखते हैं। हरिभक्तों पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। अन्यत्र जहाँ भी वह पहुँची उसका विनाश ही किया। अतः विचार कर लेना चाहिए कि सरस्वती की पूजा क्यों और कैसे करें?

रामचरित मानस का ही एक प्रसंग है। एक बार भरद्वाज आश्रम प्रयागराज में महर्षि याज्ञवल्क्य का पदार्पण हुआ। यही माघ का महीना था, स्नान का पर्व था। भरद्वाज जी ने महर्षि से अनुनय किया- प्रभु! हमें रामचरित बताइए। याज्ञवल्क्य जी

ने कहा, **'रामचरित अति अमित मुनीसा। कहि न सकहिं सत कोटि अहीसा।।'** हे मुनीश्वर! रामचरित अपार है, असीम है, सौ करोड़ शेषनाग रात-दिन वर्णन करें तब भी उसे नहीं कह सकते। **'तदपि जथाश्रुत कहउँ बखानी। सुमिरि गिरापति प्रभु धनु पानी।।'**- मैंने जैसा सुना है, वैसा वाणी के स्वामी **'प्रभु धनु पानी'**- धनुर्धर परमात्मा श्रीराम का स्मरण कर कहता हूँ। व्यक्त करने की आवश्यकता थी वाणी की किन्तु वाणी-वन्दना नहीं की अपितु वाणी के प्रेरक प्रभु का स्मरण किया। क्यों? **'सारद दारु नारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अन्तर्यामी।।'** शारदा है क्या? कठपुतली! दारु अर्थात् काष्ठ और नारि अर्थात् स्त्री! काठ की पुतली मात्र। स्वयं में एक पुर्जा। और राम क्या हैं? उसके सूत्रधर, कठपुतली को नचानेवाले। वे अन्तर्यामी हैं। जिसके भी हृदय में भाव देखा, जिस पर जन जानकर कृपा की, उसके हृदय में इस सरस्वती को नचाने लगते हैं। सरस्वती नृत्य करने लगती हैं। **'कवि उर अजिर नचावहि बानी।'**

ऐसे ही एक सेवक थे हनुमान। एक बार लंका में घोर निशाचरों के मध्य वे कैद हो गये। निशाचरों ने कहा- इसे मार डालो, किसी ने कहा- इसके हाथ-पैर तोड़ दो, अंग-भंग कर दो। रावण ने कहा, **'कपि के ममता पूँछ पर, सबहि कहउँ समुझाइ। तेल बोरि पट बाँधि पुनि, पावक देहु लगाइ।।'** तुम कुछ नहीं जानते हो। बन्दर का ममत्व उसकी पूँछ में होता है। इसमें कपड़ा लपेटकर, इसे तेल में भिंगोकर केवल आग लगा दो। **पूँछहीन बानर तहँ जाइहि। तब सठ निज नाथहि लइ आइहि।। जिन्ह कै कीन्हिसि बहुत बड़ाई। देखऊँ मैं तिन्ह कै प्रभुताई।।** यह बहुत बड़ाई करता है कि राम इतने अन्तर्यामी हैं, आत्मा के भी आत्मा हैं। उनकी प्रभुता मैं भी तो देखूँ। इसकी पूँछ जला दो, तभी यह अपने स्वामी को ले आयेगा।

इतना सुनते ही हनुमान जी प्रसन्न हो गये। **'बचन सुनत कपि मन मुसुकाना। भइ सहाय सारद मैं जाना।।'** उन्हें लगा कि शारदा सहायक हो गयीं। ठीक वही स्वभाव कि **'जेहिं पर कृपा करहिं जन जानी। कवि उर अजिर नचावहिं बानी।।'** भक्त की सुरक्षा के लिए राक्षसों के हृदय में प्रेरणा हो गई और वही शब्द निकले, जिसमें भक्त का हित निहित है।

वस्तुतः सरस्वती का उपयोग क्या है? **'भगति हेतु बिधि भवन विहाई। सुमिरत सारद आवत धाई।।'**- भक्त के हित के लिए शारदा विधाता का भवन त्यागकर दौड़कर चली आती हैं। **कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लगति पछताना।। रामचरित सर बिन अन्हवाये। सो श्रम जाइ न कोटि उपाये।।**

सरस्वती आयी और रामचरित में उसे नहलाया नहीं तो करोड़ों उपाय से भी उसका श्रम दूर नहीं होता। अस्तु, सरस्वती का उपयोग केवल भगवान् की भक्ति में है।

गोस्वामी जी ने पवित्र करनेवाली वस्तुओं में सरस्वती की गणना की है- **'पुनि बन्दउँ सारद सुर सरिता। जुगल पुनीत मनोहर चरिता।।'** सरस्वती और गंगा दोनों के मनोहर चरित्र को गोस्वामी जी मानते हैं। कैसा है चरित्र उनका? क्यों पावन हैं दोनों? **'मज्जन पान पाप हर एका। कहत सुनत एक हर अविवेका।।'** गंगा अवगाहन करने, जलपान करने से पापों को हर लेती है तो सरस्वती कहने-सुनने, विचार-विमर्श करने मात्र से अविवेक को हर लेती है।

विवेक है क्या? गोस्वामी जी का निर्णय है- **'सुनहु तात मायाकृत, गुन अरु दोष अनेक। गुन यह उभय न देखिअहिं, देखिअ सो अविवेक।।'** हे लक्ष्मण, माया के द्वारा निर्मित अपार गुणों की शृंखला तथा माया के ही द्वारा निर्मित अपार दुर्गुणों की शृंखला है। इन मायाकृत गुण और दुर्गुणों को देखना अविवेक है। इसे मत देखो। माया से परे केवल भगवान् हैं। इसलिए विवेक का अर्थ है आत्म-चिन्तन की जानकारी और उस पर चलना, यही सरस्वती की देन है।

गोस्वामी जी ने उत्तरकाण्ड में सभी प्रश्नों का उत्तर देते हुए बताया कि धर्म क्या है, कर्म क्या है? परमात्मा की सत्ता सर्वत्र स्वीकार करते हुए भी वे कहते हैं- सर्वत्र पूजन की आवश्यकता नहीं है। राम, एक परमात्मा करोड़ों शारदा से बढ़कर हैं। **दुर्गा कोटि अमित अरि मर्दन-** दुर्गा को पूजेंगे तो एक दुर्गा प्रसन्न होंगी, राम को पूजेंगे तो करोड़ों दुर्गा, करोड़ों विष्णु, अरबों ब्रह्मा, अरबों रुद्र आपके ऊपर एक साथ प्रसन्न हो जायेंगे। **'सारद कोटि अमित चतुराई। विधि सत कोटि सृष्टि निपुनाई।।'** शारदा को पकड़ेंगे तो एक सरस्वती आपका साथ देगी; किन्तु राम को पकड़ेंगे तो करोड़ों शारदा की असीम चतुराई आपका वरण करेगी। गोस्वामी जी ने सम्पूर्ण बड़े-बड़े देवताओं का स्मरण किया और कहा कि ये देवता केवल एकपक्षीय प्रगति में सहायक हो सकते हैं; किन्तु एक परमात्मा राम के प्रखर प्रकाश की तुलना में ये जुगुनू के समकक्ष भी नहीं हैं। एक परमात्मा के प्रति समर्पित होने से आपका सर्वांगीण विकास होगा। आपकी सभी मनचाही कामनाएँ, बल भी, सरस्वती भी, पालन, परिवर्तन और ऐश्वर्य तो मिलेगा ही, मोक्ष मिलना ही मिलना है; क्योंकि ईश्वर-पथ लक्ष्यप्राप्ति के पूर्व विराम नहीं लेता।

परमात्मा के भजन के बिना किसी की मुक्ति हुई ही नहीं है। गोस्वामी जी का निर्णय है, **'रामचन्द्र के भजन बिन, जो चह पद निरबान। ज्ञानवंत अपि सो नर,**

पसु बिन पूँछ विषान।।'– राम, एक परमात्मा के भजन के बिना यदि कोई निर्वाण चाहता है, परमशान्ति और अनन्त जीवन चाहता है तो वह ज्ञानी होने पर भी सींग-पूँछरहित पशु मात्र है। बैल में और उसमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। केवल उसे पूँछ नहीं है, सींग नहीं है (वनमानुष हो सकता है)। **'वारि मथे घृत होइ बरु, सिकता ते बरु तेल। बिन हरिभजन न भव तरिअ, यह सिद्धान्त अपेल।।'**– भले पानी मथने से घी निकल आये, यह असम्भव कदाचित् सम्भव हो जाय, बालू पेरने से तेल निकल आये किन्तु हरि के भजन के बिना कोई भव पार होता ही नहीं। इसलिए भजन तो एक परमात्मा का ही वांछनीय है। उत्सव आप कोई भी मनायें किन्तु प्रार्थना महर्षि याज्ञवल्क्य की तरह **'सुमिरि गिरापति प्रभु धनु पानी'**– एक परमात्मा का ही करें। छोटे-छोटे देवी-देवता गोस्वामी जी के अनुसार एक विभाग अवश्य हैं किन्तु सभी विभागों के संचालक एक परमात्मा राम हैं। राम, शिव, ओम् पर्यायवाची शब्द हैं। सबका आशय एक है- एक परमात्मा के प्रति समर्पण। अतः वाणी, धन-धान्य, जीवन-मोक्ष इत्यादि सभी कामनाओं की प्राप्तिहेतु एक परमात्मा का पूजन ही शास्त्रोक्त विधि है, सही तरीका है।

।। ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान् की जय।।

भगवान् को दाढ़ी क्यों नहीं?

(एक जिज्ञासु भाविक ने प्रश्न किया है कि भगवान् को दाढ़ी क्यों नहीं है?)

बन्धुओ!

आपकी जिज्ञासा स्वाभाविक है कि भगवान् है कैसा? इसी तरह की जिज्ञासा कभी माँ पार्वती जी को हुई थी। उन्होंने भगवान् शिव से प्रश्न किया था, **'रामु सो अवध नृपति सुत सोई। की अज अगुन अलखगति कोई।।'**- राम अयोध्या नरेश के पुत्र थे अथवा अलख अविनाशी कोई अन्य?'' शंकर जी नाराज हो गये। वे कहने लगे, ''**कहहिं सुनहिं अस अधम नर, ग्रसे जे मोह पिसाच। पाषंडी हरि पद बिमुख, जानहिं झूठ न साच।।** हे पार्वती! तुमने जो प्रश्न किया कि राम कौन हैं?, ऐसा अनर्गल निकृष्ट प्रश्न तो कोई अधम मनुष्य ही कर सकता है, जिसे मोहरूपी पिशाच ने ग्रस रखा है। जो पाखण्डी है, हरिपद से विमुख है, वही ऐसा प्रश्न कर सकता है- **'बातुल भूत बिबश मतवारे। ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे।।''**

इस प्रकार भगवान् भोलेनाथ ने पन्द्रह-पचीस खरी-खोटी सुनाया किन्तु माता पार्वती शान्त भाव से बैठी रहीं। शंकर जी ने सोचा कि बात क्या है? मेरी ताड़ना का इस पर प्रभाव क्यों नहीं पड़ा? यह प्रश्न इसका है भी कि नहीं? तब शंकर जी ने ध्यान धर के देखा। शंकर जी के पास वह यंत्र था कि इसके मन में क्या है? सब पकड़ लिया। वे बहुत प्रसन्न हुए। जब ध्यान टूटा, तब बोले, **'रामकृपा ते पारवति, सपनेहुँ तव मन माहिं। सोक मोह संदेह भ्रम, मम विचार कछु नाहिं।।'** हे पार्वती! भगवान् की असीम अनुकम्पा से तुम्हारे मन में न शोक है, न सन्देह है, न भ्रम है। तुम्हें तो शंका है ही नहीं। किन्तु तुमने जो पूछा है, संसार के हित में है इसलिए सुनो कि भगवान् हैं कैसे?

आदि अन्त कोउ जासु न पावा। मति अनुमानि निगम अस गावा।।

यह भगवान् जन्मा कब से, रहेगा कब तक?- यह तो आज तक कोई नहीं जाना; किन्तु अपने विवेक-विचार से वेदों ने इस प्रकार गायन किया कि-

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना।।
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी।।

वह तन के बिना स्पर्श करता है, बिना आँखों के देखता है, बिना पैर के सर्वत्र चलता है, बिना हाथों के सर्वत्र कार्य करता है। **असि सब भाँति अलौकिक**

करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी।।- इस प्रकार भगवान् के कृत्य अलौकिक हैं। अब बनाओ न भगवान् का चित्र बिना हाथवाला, बिना पैरवाला!

जिन भगवान् भोलेनाथ शिव ने रामचरित मानस की रचना की, उन महापुरुष ने स्वयं बताया कि राम का स्वरूप कैसा है? वह बिना पैर के चलता है, बिना हाथों के काम करता है, बगैर शरीर के स्पर्श करता है। वह अरूप है, अमूर्त है, कण-कण में व्याप्त है, जिसका निवास हृदय-देश में है- **सब के उर अंतर बसहु, जानहु भाउ कुभाउ।** लेकिन वह है सदा किशोर। न तो वह अबोध बालक है कि लड़खड़ाता रहे, न वह वृद्ध है कि भूल करता रहे, भ्रमित हो जाय। भगवान् सदा किशोर और अमूर्त है।

किशोरावस्था दाढ़ी का अंकुर फूटने से एक सेकेण्ड पहले की अवस्था है, यौवन से ओतप्रोत, ओजस एवं स्फूर्ति का अक्षय भण्डार, अजस्र स्रोत! आपकी, जीवमात्र की व्यवस्था। सुरक्षा में सदैव सन्नद्ध। इसीलिए भगवान् की संकल्पना किशोर के रूप में की गई। वस्तुतः वह अमूर्त है, अरूप है, अनिर्वचनीय है, जैसा पूर्व के समस्त महापुरुषों के वाङ्मय में है।

अनादि वैदिककाल से जितने भी अवतार, महापुरुष हुए हैं, जिन्होंने प्रभु को प्रत्यक्ष देखा, सबने एक ही स्वरूप बताया कि वह अनिर्वचनीय है। सर्वज्ञ, शाश्वत, अकाल पुरुष है। भगवान् बुद्ध के लिए लोगों ने अफवाह फैला रखा है कि वे भगवान् को नहीं मानते; किन्तु महापुरुष ने स्वयं निर्णय दिया कि मैंने आज उस अविनाशी पद को प्राप्त किया है जो मुझसे पूर्व महर्षियों ने प्राप्त किया था। मैंने आज सर्वज्ञ पद को प्राप्त किया जो मुझसे पूर्व महर्षियों ने प्राप्त किया था। मैंने आज सर्वज्ञ पद को प्राप्त किया- उस परमतत्त्व का इतना ही तो स्वरूप है। यही गीता कहती है कि आत्मा अविनाशी है, सर्वज्ञ है; किन्तु काला, गोरा, हल्का, भारी, जन्म और आयु परमात्मा में ऐसा कुछ नहीं है। भगवान् बुद्ध, महावीर स्वामी सबने एक ही निर्णय दिया कि वह अन्तर्दृष्टि से पकड़ में आता है, ध्यान-समाधि की स्थिति में विदित होता है और भक्त को अपने में समाहित कर लेता है। ऐसी परिस्थिति में जहाँ भौतिक आकार ही नहीं है, वहाँ दाढ़ी किसको और कहाँ जमेगी?

वैसे **'जिन देखा सो कहा नहिं, कहा सो देखा नाहिं। रहिमन अगम बात के, कहन सुनन को नाहिं।।'** जिन्होंने उस परमसत्ता का दिग्दर्शन किया, उन्होंने कहा नहीं और जो कहते हैं, उन्होंने देखा नहीं तो भगवान् के भौतिक स्वरूप का रेखांकन कैसा?

भगवान् कोई व्यक्ति नहीं बल्कि आपके हृदय में छिपा हुआ ज्योतिर्मय तत्त्व है। भजन के द्वारा, चिन्तन के द्वारा वह पहले बातें करता है, क्रमशः उँगली पकड़कर योगक्षेम करता है। आपमें दृष्टि बनकर संचारित हो जायेगा, सामने स्वयं दर्शन देगा, जानकारी देगा। **जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।**– अपने में स्थिति प्रदान कर देगा; क्योंकि **'मन बस होई तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजे।।'** वह प्रभु ही यह सब कुछ करने में सदैव तत्पर रहता है इसीलिए भगवान् को किशोर कहा गया और किशोरावस्था की भावना करके मन्दिरों में मूर्तियाँ रची गईं। यह प्रतीकात्मक है। यह बाल, गोपाल एवं अनभिज्ञ प्राणियों के मन में साधना का सूत्रपात् करने की विधा है। जब अन्दर की साधना जागृत हो जाती है, साधक हृदय में ही सिमट जाता है, बाहर नहीं झाँकता। अतः मानव मात्र को इस पर ध्यान देना चाहिए। हमारे पूर्व महापुरुषों ने इस प्रश्न में अकारण उलझना उपयोगी नहीं माना। भगवान् बुद्ध से एक सज्जन ने प्रश्न किया कि, क्या हमें भगवान् को दिखा सकते हैं? बुद्ध ने कहा कि मैं दिखा तो नहीं सकता, हाँ तुम्हें प्राप्त करा सकता हूँ। वह अमूर्त है। उसे पाना है तो तुम हमारे साथ ध्यान करो। अतः सभी को एकमात्र प्रभु, एक परमात्मा की प्राप्ति का उद्योग करना श्रेयस्कर है।

।। ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान् की जय।।

विश्वकर्मा पूजा

भारत में अनेक प्रकार की पूजाएँ प्रचलित हैं। ऐसी ही अनेक पूजाओं में से एक है विश्वकर्मा पूजा! हमें यह देखना है कि विश्वकर्मा पूजा क्या है?

नानापुराण निगमागमसम्मत ग्रन्थ रामचरित मानस में गोस्वामी तुलसीदास जी ने उद्घोष किया है कि,

करम बचन मन छाड़ि छल, जब लगि जनु न तुम्हार।
तब लगि सुख सपनेहुँ नहीं, किएँ कोटि उपचार।।

अर्थात् मन, कर्म और वचन से कपट का त्याग करके जब तक कोई एक परमात्मा का जन नहीं हो जाता, तब तक **'सुख सपनेहुँ नहीं'**- उसे स्वप्न में भी सुख नहीं मिल सकता है। **'किएँ कोटि उपचार'**- अन्य करोड़ों उपचार करे तब भी नहीं मिल सकता। किन्तु हम उपचार करते हैं। एक-दो नहीं, करोड़ों करते हैं। तैंतीस करोड़ देवी-देवता, तैंतीस करोड़ उनके नाम, हर देवता के अलग मन्त्र, अलग पुजारी हमने नियत कर रखे हैं। या तो तुलसीदासजी कुछ भूल कर बैठे या हमने उनके निर्देश का उल्लंघन किया है। कहीं न कहीं तो भूल अवश्य है।

भारतीय मनीषियों ने सर्वसम्मति से स्वीकार किया है कि भगवान् ही मात्र एक ऐसी सत्ता है जो सृष्टि में एक है, वह दो कभी हुआ ही नहीं- **'व्यापक एक ब्रह्म अविनासी। सत चेतन घन आनन्द रासी।'** वह रहता है कहाँ? **'अस प्रभु हृदय अछत अविकारी।'**- वह प्रभु कण-कण में व्याप्त है। भगवान् एक से डेढ़ कभी हुआ ही नहीं। वह अपरिवर्तशील है, अजर है, अमर है, काल से अतीत है, सर्वज्ञ है, परम सत्य है- **'सत चेतन घन आनन्दरासी।'** वह रहता कहाँ है? गोस्वामी जी कहते हैं, ऐसा परमात्मा सबके हृदय में निवास करता है। वह अक्षत है। शल्यक्रिया से किसी का कलेजा काटकर अलग रख दें, वह बचा रहेगा। उसे क्षति नहीं पहुँचाया जा सकता। **'अविकारी'**- आप गधा, घोड़ा, कुत्ता कुछ भी खायें, कोई भी चाल-कुचाल चलें वह द्रष्टा के रूप में है, वह उससे लिपायमान नहीं होता, निर्लेप है, विकारों से अलग है। जब कभी किसी ने भटकते-भटकते भगवान् को पाया तो हृदय-देश के अन्दर ही पाया।

आपके पूर्व मनीषियों में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं, **'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।' (गीता, १८/६१)**- अर्जुन! वह ईश्वर सबके हृदय-देश में निवास करता है। वह एक है। यदि दूसरा भगवान् कदाचित् कभी पैदा भी हो गया

तो रहेगा कहाँ? क्योंकि इस विधाता की सृष्टि में पहले से ही एक भगवान् कण-कण में व्याप्त है, दूसरा भगवान् कहाँ व्याप्त होगा? दूसरे के लिए ब्रह्मा को दूसरी सृष्टि रचनी होगी। किन्तु ब्रह्मा भी तो उसके नाभि से उत्पन्न है, वह अलग सृष्टि रच कहाँ से देगा? फिर तो चकबन्दी हो जायेगी। हर भगवान् के लिए अलग-अलग सृष्टि। अतः भगवान् केवल एक हैं। सभी उसी एक परम प्रभु की सन्तान हैं- **ईस्वर अंस जीव अविनासी।** वेदों का उद्घोष है कि **'अमृतस्य पुत्राः'-** तुम उस अविनाशी अमृत तत्त्व के पुत्र हो अर्थात् सब परमात्मा की सन्तान हो। भगवान् ही ऐसा है जो एक है। उसकी शरण मन-वचन-कर्म से गये बिना स्वप्न में भी जीव विश्राम नहीं पाता। हम सुनते हैं, साठ करोड़ हिन्दू हैं और तैंतीस करोड़ देवी-देवता। दो-दो आदमी एक देवता के हिस्से में। हिन्दुओं में एकता एक प्रश्नचिन्ह बना हुआ है। बिखराव से उनमें समृद्धि भी नहीं है। अभी बहुत दिन नहीं व्यतीत हुए हैं, इसी भारतवर्ष में शिव बड़ा या राम- विवाद का विषय था। इसे लेकर तलवारें चली हैं। कई बार सरयू की धारा इसी के समाधान में रक्तरंजित हुई। कभी शैव और शाक्तों में भयंकर युद्ध हुआ करते थे। युगपुरुष तुलसीदास जी का मानस समन्वय की विराट चेष्टा है। उन्होंने इन सभी संघर्षों को भली प्रकार सुलझाया है, वह भी भगवान् की प्रेरणा से- **'तस कहियउँ हिय हरि के प्रेरे।'**

रामचरित मानस के अनुसार भजन केवल एक प्रभु का करना चाहिए।

सोइ सर्बग्य गुनी सोइ ज्ञाता। सोइ महि मण्डित पण्डित दाता।।
धर्म परायन सोइ कुल त्राता। राम चरन जा कर मन राता।।

वह सर्वज्ञ है, धर्म का मर्मज्ञ है, विशेषज्ञ है, गुणी और ज्ञाता है, पृथ्वी में सम्मानित पुरुष और दानदाता है (उसके पास देने लायक सामग्री है)। कौन? **राम चरन जा कर मन राता।** राम, एक परम प्रभु के चरण-कमल में जिसका मन अनुरक्त है।

नीति निपुन सोइ परम सयाना। श्रुति सिद्धान्त नीक तेहि जाना।।
दच्छ सकल लच्छन जुत सोई। जाके पद सरोज रति होई।।

वह नीति में निपुण है, परम सयाना है, वेदों का सिद्धान्त भली प्रकार उसने जाना है (चाहे वह अँगूठा छाप ही क्यों न हो), वह क्रिया में दक्ष है, सारे लक्षणों से युक्त है। कौन? राम, एक प्रभु के चरण-कमल में जिसका मन अनुरक्त है।

रामचरित मानस जिनके हृदय की उपज है, मूलतः जिनकी संरचना है मानस, उन भगवान् शिव ने अन्त में निर्णय दिया कि **'सो कुल धन्य उमा सुनु, जगत पूज्य**

सुपुनीत। श्री रघुवीर परायण जेहि नर उपज विनीत।।' हे पार्वती! वह समस्त कुल भाग्यवान् है, कृतार्थ है, जिस कुल में किसी एक का राम, उन परमतत्त्व के चरणों में प्रेम जागृत हो गया हो। बस इतना ही धर्म है- एक प्रभु के प्रति समर्पण! किन्तु हमारे भारत में व्यवसाय के नाम पर गठित जातियों ने पृथक्-पृथक् पूजन-पद्धतियों की संरचना कर ली है। श्रीवास्तव या कायस्थ बन्धु चित्रगुप्त की पूजा धूमधाम से करते हैं। यह चित्रगुप्त जी यमराज के मुख्य लेखाकार कहे जाते हैं। इनके अनुयायी बताते हैं कि जब भगवान् श्रीकृष्ण अपने गुरु संदीपन ऋषि के पुत्र को यमलोक से वापस लाने चले, उनके कदमों की धमक से यमराज विचलित हो उठे। उन्होंने इसका कारण जानना चाहा। चित्रगुप्त ने अपना रजिस्टर देखकर बताया कि उस समय किसी के भी वहाँ आने का समय निर्धारित नहीं था। भगवान् ने शंखध्वनि की। यमपुरी हिलने लगी। चित्रगुप्त ने परिचय देने में असमर्थता प्रगट किया- इत्यादि विवरण से चित्रगुप्त लेखाकार प्रतीत होते हैं। रावण के दरबार में **'रबि ससि पवन बरुन धनधारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी।। आयसु करहिं सकल भयभीता।।'** सभी भयभीत होकर आज्ञा-पालन करते थे तो उसके अधीनस्थ कर्मचारी चित्रगुप्त की पूजा कर लोग पता नहीं कौन-सी आशा लगाये बैठे हैं।

प्रजापति कुम्भकार लोग ब्रह्मा जी की पूजा करते हैं। विधाता की तरह वे भी मृद्भाण्डों का सृजन करते हैं। यह भी एक अटकल के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। लोहे के व्यवसायी विश्वकर्मा की पूजा करते हैं। भारत से सैकड़ों गुना लौह-इस्पात उद्योग विश्व के कई विकसित देशों में है; किन्तु भारत के बाहर न तो कहीं चित्रगुप्त हैं और न विश्वकर्मा।

सिवाय भगवान् के जब किसी का अस्तित्व है ही नहीं तो बीच में नये-नये देवता कहाँ से आ गये? कोई धन का देवता, कहीं जल का देवता, धरती का देवता, आकाश का देवता, युद्ध का देवता- देवताओं की कतार लग गयी। हर विभाग का एक-एक देवता बनने लगा। ये देवता आपको एक-एक वस्तु दे सकते हैं। कोई युद्ध के लिए आपको शक्ति देगा, कोई धन; किन्तु मोक्ष देने की क्षमता इनमें से किसी में नहीं है। आपको धन भी मिले, समृद्धि भी मिले; उसके लिए तो एक प्रभु की शरण में जाना पड़ेगा।

श्रीमद्भागवत, द्वितीय स्कन्ध के तृतीय अध्याय में उल्लेख है कि पति-पत्नी में सहृदयता बनाये रखने के लिए पार्वती की, सन्तान की कामना से प्रजापतियों की, पत्नी के लिए उर्वशी अप्सरा की, धन के लिए कुबेर की, आरोग्य के लिए धनवन्तरि की आराधना करनी चाहिए। इस प्रकार बीस-पच्चीस देवताओं के नाम का परिकलन

कर अन्त में शुकदेव जी कहते हैं कि सम्पूर्ण कामनाओं, समग्र समृद्धि और परमश्रेय मोक्ष की प्राप्ति के लिए एक परमात्मा की शरण जाओ। यही है गोस्वामी जी के शब्दों में **'लोक लाहु परलोक निबाहू।'** एक परमात्मा के भजन से समृद्धियों के समस्त स्रोत आपके साथ होंगे और भगवान् के अंक में आपका स्थान भी होगा, परमपद आपकी मुट्ठी में होगा। इस जन्म में आपसे थोड़ा साधन भी पार लग गया तो अगले जन्म में भी आप वहीं करेंगे। कुछेक जन्मों के अन्तराल से आप वहीं पहुँच जायेंगे जिसका नाम परमधाम है, शाश्वत समृद्धि है।

विश्व के रचनाकार की चर्चा गोस्वामी जी के मानस में यत्र-तत्र है। वनवासी श्रीराम पर दृष्टि पड़ते ही सुग्रीव व्यग्र हो गये। हनुमान से उन्होंने कहा- देखो, दो शूरवीर आ रहे हैं। बालि का मन मैला है, कहीं हमारी हत्या के लिए उसने इन्हें नियुक्त न किया हो? तुम्हारा संकेत मिलते ही मैं पलायित हो जाऊँगा। हनुमान ने ब्राह्मण-वेष बनाया और अपने ढंग से परीक्षा लेने लगे- **'की तुम तीनि देव महँ कोऊ। नर नारायण की तुम्ह दोऊ।।'** आप ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन तीन देवताओं में से कोई हैं अथवा आप नर नारायण हैं। **'जग कारन तारन भव, भंजन धरनी भार। की तुम्ह अखिल भुवनपति, लीन्ह मनुज अवतार।।'** अथवा आप जगत् की उत्पत्ति के कारण, भव से उद्धार करनेवाले और पृथ्वी का भार हरण करनेवाले साक्षात् परमात्मा हैं? स्पष्ट है तीन देव कोई और हैं, नर नारायण अन्य हैं और जगत् का निर्माता, उद्धारकर्त्ता, भारहरणकर्त्ता कोई अन्य। विश्वकर्मा का आशय यदि विश्व के रचनाकार से है तो यहाँ यह संरचना स्वयं परमेश्वर की है। किसी अन्य रचनाकार का अस्तित्व मानसकार ने स्वीकार नहीं किया है।

सृष्टि के आदि महाराज मनु को समस्त वैभवों के होते हुए भी एक दिन बहुत दुःख हुआ- **'हृदयँ बहुत दुख लाग, जनम गयउ हरिभगति बिनु।'** हृदय में अपार दुःख हुआ कि चौथापन आ गया फिर भी विषयों से वैराग्य नहीं होना चाहता है। बलात् राज्य पुत्र को सौंपा, तपोभूमि नैमिषारण्य में ऋषियों से साधन-क्रम समझा और शान्त एकान्त भजन में बैठ गये। उन्होंने विचार किया-

संभु बिरंचि विष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना।।
ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीना तनु गहई।।
जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहिं अभिलाषा।।

अर्थात् अनन्त ब्रह्मा, विष्णु, महेश जिसके अंश मात्र से उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं- ऐसा भी कोई भगवान् है जो सेवक के वश में है। यदि वेद का यह

वाक्य सत्य है तो मेरी अभिलाषा अवश्य पूर्ण होगी। सम्पूर्ण भारत में अधिकांश हिन्दू या तो विष्णु का पुजारी है या शिव और ब्रह्मा का; किन्तु मनु महाराज ने उसका भजन किया जिसके अंश मात्र से अनन्त त्रिदेव उत्पन्न होते, विलय को प्राप्त होते रहते हैं। यहाँ विश्व के निर्माता, प्रथम उत्पत्ति-स्थिति-संहारकर्त्ता एक परमात्मा हैं, वही वास्तविक विश्वकर्मा हैं। विश्व का रचनाकार, गतिविधि नियंत्रक एवं संचालक गोस्वामी तुलसीदास जी एक परमात्मा को ही सम्बोधित कर रहे हैं।

जिस लंकाधिपति रावण की राजसभा में **'कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता।।'** समस्त देवता विनीत भाव से नमन कर रहे थे, जिनकी रक्षा के लिए परमात्मा ने अवतरित होने का आश्वासन दिया था, उसी सभा में भगवान् का दूत निर्भीक खड़ा था। रावण बोला- दुष्ट मर्कट! क्या तूने मेरा सुयश नहीं सुना? तूने किसके बल से वाटिका का विध्वंस किया? निशाचरों का संहार तूने किसके बल से किया? क्या तुझे मृत्यु का भय नहीं है? हनुमान बोले, **'सुनु रावन ब्रह्माण्ड निकाया। पाइ जासु बल विरचति माया।।'** यावन्मात्र ब्रह्माण्ड सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी; जड़, चेतन, स्थावर, जंगमयुक्त अनन्त ब्रह्माण्डों की संरचना जिसके बल से माया करती है, माया को रचनाधर्मिता प्रदान करनेवाले भगवान् हैं। जिससे रचना होती है वह मैटेरीयल भगवान् देते हैं। उपादान कारण, निमित्त कारण, **'कारणं कारणानाम्'** भगवान् ही हैं। जिसके बल से विधाता सृजन, विष्णु पालन, रुद्र संहार करते हैं और **'जाके बल लवलेस ते, जितेहु चराचर झारि। तासु दूत मैं जा करि, हरि आनेहु प्रिय नारि।।'**- जिसका लेश मात्र बल पाकर तूने चराचर जगत् जीत लिया है, मैं उन्हीं परम प्रभु का दूत हूँ जिनकी प्रिय भार्या का तूने अपहरण कर लिया है। माया में इतनी क्षमता कहाँ है कि वह रचना कर सके। **'माया खलु नर्तकी बिचारी'**- वह तो बेचारी नाचनेवाली नटिनी मात्र है, इसके आगे कुछ नहीं। माया जिसका बल पाकर संरचना करती है, ब्रह्मा जिसका बल पाकर सृजन करते हैं, जिसका बल पाकर शेषनाग पृथ्वी को धारण करते हैं, जिसका लेशमात्र बल पाकर तू इतरा कर घूम रहा है, मैं उन्हीं परम प्रभु का दूत हूँ। अस्तु, विश्व को किसने बनाया? विश्व में परिवर्तन किसकी देन है? उन्हीं एकमात्र प्रभु की! उन्हीं एक परमात्मा की शरण जाने के लिए गोस्वामी जी बार-बार आग्रह कर रहे हैं।

पुराणों में विश्वकर्मा के उल्लेख मिलते हैं। महाभारतकाल में इन्द्रप्रस्थ की रचना मय दानव ने की थी। हनुमान जी ने लंका-दहन किया, स्वर्णिम लंका मिट्टी के ढेर में पिघल गयी। विश्वकर्मा ने उसका जीर्णोद्धार किया, लंका वैसे ही दमकने लगी।

वह था रावण का श्वसुर मय दानव। भगवान् श्रीकृष्ण की द्वारिकापुरी का निर्माण विश्वकर्मा ने किया। सुदामापुरी भी उन्होंने ही बनाया था। अभी एक सज्जन पूछ रहे थे कि विश्वकर्मा देवता था या दानव। हमें तो दोनों दिखायी दे रहे हैं। दानव हो या देवता, थे तो सगे भाई, एक पिता के पुत्र। मातृपक्ष से दिति और अदिति की सन्तानें दानव और देवता हैं। विश्वकर्मा दोनों ही पक्षों में हैं।

कथा आती है कि एक बार इन्द्र ने महल बनवाया। वह ऐसा महल बनवाना चाहते थे जो सृष्टि में उस समय तक कहीं बना न हो। वे उस महल को और भी सजाना चाहते थे। उन्होंने विशेषज्ञों की राय ली, अतिथियों को सुझाव के लिए अनुनय किया। हर कोई अपनी-अपनी दृष्टि से कुछ न कुछ सुझाव देने लगा। सुधारते-सुधारते विश्वकर्मा परेशान हो गये। एक दिन महर्षि लोमश वहाँ पधारे। विश्वकर्मा ने उनसे अपनी परेशानी बतायी, निवारण-हेतु विनय किया। महर्षि ने आश्वासन दिया, इन्द्र के समीप गये। इन्द्र ने सादर प्रणाम किया, अपने उत्कृष्ट महल को देखने के लिए महर्षि से निवेदन किया। महर्षि ने उस महल का निरीक्षण किया किन्तु कहा कुछ नहीं। इन्द्र ने कहा- भगवन्! कहीं कमी प्रतीत हो रही हो तो निःसंकोच कहें, हम वैसा सुधार करा दें। महर्षि लोमश ने कहा- इसमें दो कमियाँ हैं जिनका सुधार कोई कर ही नहीं सकता। मर्माहत हो देवराज ने कहा, ''आप आदेश तो दें।'' महर्षि लोमश ने कहा- ''पहली कमी तो यह है कि एक दिन यह गिर जायेगा और दूसरी कमी यह है कि इसे बनाने वाला इसमें रह नहीं पायेगा। इन्द्र मौन हो गये। विश्वकर्मा की जान बच गयी। इस कथानक में विश्वकर्मा देवराज के शिल्पी प्रतीत होते हैं जो दूसरों के निर्देशों का पालन करने के लिए बाध्य हैं; किन्तु भगवान् परम शिल्पी हैं। ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में ऋचा है कि उन परम प्रभु के तेज के एक अंश मात्र से सृष्टि का सृजन, पालन और परिवर्तन होता है। सर्वप्रथम शिल्पी तो वे प्रभु ही हैं। विश्वकर्मा स्वतन्त्र अस्तित्ववाला कोई देवता नहीं है।

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं, **'ममैवांशो जीवलोके'-** मेरे एक अंश से सारी सृष्टि का पालन, परिवर्तन और संचालन होता है इसलिए अर्जुन! तू मेरी शरण हो जा। अतः विश्व की संरचना करनेवाला एक परमात्मा ही है। परमात्मा से अलग विश्वकर्मा कोई देवता नहीं है।

एक बार शस्त्र-पूजा हो रही थी। भीष्म ने अर्जुन से कहा, ''कल शस्त्र-पूजा होगी।'' अर्जुन उस समय बहुत ही छोटा था। अर्जुन ने प्रश्न किया- ''पितामह! शस्त्र कोई भगवान् है क्या जो उसकी पूजा होगी?'' भीष्म बोले- ''पगले! शस्त्र कोई

भगवान् नहीं है। पूजा तो भगवान् की ही होगी, जिससे वे प्रभु शस्त्र-संचालन में हमें निपुणता प्रदान करें।'' इसी प्रकार सम्पूर्ण देश अपने कारखानों, अपने व्यवसाय में एक प्रभु की प्रार्थना करके ही कार्यारंभ करते हैं जिससे दुर्घटना न घटित हो और वे अपने कार्य में प्रगति करते हुए उत्तरोत्तर सफलता की ओर अग्रसर हों, विश्वकर्मा पूजन का भी यही रहस्य है। **'अखिल बिस्व यह मोरि उपाया।'**– भगवान् ही विश्व के निर्माता हैं इसलिए प्रभु का सर्वोपरि नाम विश्वकर्मा है। प्रभु की अनन्त छवियों में से हम उसकी निर्माता छवि का पूजन करते हैं जिससे हमारे निर्माण कार्य सदा रहें, वृद्धि करें। प्रभु से हम प्रार्थना करते हैं कि हम आपकी शरण में हैं, हमें अर्जुन की तरह विजय दें। अस्तु, रूप चाहे जितने भी हों, पूजा मूलतः विश्व के कर्ता-धर्ता-संहर्ता एक परमात्मा की ही करनी चाहिए।

जानकी जी के स्वयंवर का आयोजन था। अनेक पराक्रमी नरेश धनुष तोड़ने के प्रयास में हताश हो चुके थे। दस हजार राजाओं ने भी सामूहिक प्रयास कर देखा किन्तु धनुष टस से मस नहीं हुआ। अन्ततः राम की कोमलता देखकर सीता जी व्याकुल हो गयीं- **'तब रामहि बिलोकि बैदेही। सभय हृदयँ बिनवति जेहि तेही।।'** जिस किसी का नाम याद आ गया वे उसी से अनुनय-विनय करने लगीं। **'गननायक बरदायक देवा'**– गणेश जी की स्तुति करने लगीं कि आज के लिए ही मैंने आपकी सेवा की थी, आप हमारी विनय सुनें और राम के पहुँचते ही धनुष को हल्का कर दें। उन्होंने महेश-पार्वती की आराधना की, प्रत्येक देवी-देवता का आवाहन किया। **'देखि देखि रघुबीर तन, सुर मनाव धरि धीर। भरे बिलोचन प्रेम जल, पुलकावली सरीर।।'** आँखें प्रेम से छलछला उठीं, रोमांच हो आया, सारे देवताओं को सीता जी सामूहिक रूप से मनाने लगीं। इन्द्र, वरुण, कुबेर सभी को मनाया होगा। विश्वकर्मा जी जरूर रहे होंगे, एक रन्दा मार देते तो हल्का हो गया होता; किन्तु देवताओं की ओर से सफलता के आसार दिखायी नहीं दिये।

सीता जी ने आँखें बन्द कर लीं और उन एक परम प्रभु का स्मरण आरम्भ कर दिया, **'तन मन बचन मोर पनु साचा। रघुपति पद सरोज चितु राचा।। तौ भगवान सकल उरवासी। करिहि मोहि रघुबर कै दासी।।'** यदि मन-क्रम-वचन से उनके चरणों में मेरा निश्छल प्रेम है तो भगवान् मुझे रघुवर की दासी बनायें। कौन भगवान्? **'सकल उरवासी'**– वही जो सबके हृदय में निवास करता है। सीता तैंतीस करोड़ देवी-देवताओं की प्रार्थना कर देख चुकी हैं। सबसे निराश होकर वह भगवान् की शरण आईं। हृदय के प्रेम को प्रभु ने तुरन्त पहचाना। **'तेहि छन राम मध्य धनु**

तोरा'- इधर पुकार हुई उसी क्षण उधर धनुष टूट गया। सीता को सफलता मिल गयी। पहले तो परम्परा के अनुसार उन्होंने जिस किसी की अभ्यर्थना की; किन्तु सफलता तभी मिली जब उस परमात्मा का स्मरण किया, जिसका सुमिरन करने के लिए रामचरित मानस में आदेश है।

देवपूजन हमारी परम्परा में है। सीता जी भी उसी परम्परा से गुजरीं; किन्तु सफलता तभी मिली जब **'सकल उरवासी'**- एक प्रभु की शरण गयीं। इसलिए जब तक समझ में न आये तब सब करो, चाहे जैसी पूजा करो; किन्तु बोध हो जाने पर भजन केवल भगवान् का, समर्पण एक प्रभु के प्रति ही होना चाहिए।

विश्वकर्मा शब्द का सांकेतिक अर्थ है कि विश्व में कर्म ही प्रधान है- **'कर्म प्रधान बिस्व करि राखा।'** विश्व में कुछ पाना है तो कर्म करो और **'जो जस करइ सो तस फल चाखा।।'** जैसा कर्म करोगे वैसा फल पाओगे। चाहे प्रगति की मंजिल का स्पर्श कर लो या पतन के गर्त में चले जाओ। शुभ-अशुभ कर्म तो अनन्त हैं, इसमें सर्वश्रेष्ठ कर्म है- हरि का स्मरण! उसका फल विपरीत भोग नहीं मिलता अपितु जैसा आप चाहते हैं सर्वतोमुखी समृद्धि ही मिलती है।

भगवान् राम का अभिषेक हो चुका था। तीनों लोक में सुख-शान्ति की लहर दौड़ गयी थी। उन दिनों भगवान् ने एक सभा बुलायी- **'एक बार रघुनाथ बोलाये। गुरु द्विज पुरवासी सब आये।।'** गुरु द्विज, पुरवासी सभी एकत्र हो गये, तो उन्होंने सबको सम्बोधित किया- **'बड़े भाग मानुस तनु पावा। सुर दुर्लभ सबग्रंथन्हि गावा।।'** मनुष्य-शरीर देवताओं को भी दुर्लभ है। देवताओं की अपेक्षा आपके पास एक सुविधा अधिक है। देवयोनि में पुण्यों के फलस्वरूप भोग तो है किन्तु पुण्य क्षीण होने पर देवता मृत्युलोक को प्राप्त होते हैं। **'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं, क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।'** वे नवीन, अग्रेतर साधना करके परमात्म-स्वरूप तक नहीं पहुँच सकते। यह क्षमता है तो केवल मनुष्य शरीर में है। इसलिए मानव शरीर **'सुर दुर्लभ सबग्रंथन्हि गावा।'** देव-दुर्लभ है। विशेषता क्या है इसमें? **'साधन धाम मोच्छ कर द्वारा।'**- यह साधन का धाम है, मुक्ति का दरवाजा है। साधन का अर्थ आटा, रोटी, दाल या जीविकोपार्जन के साधन नहीं बल्कि वह साधन जो आपको मुक्तिपर्यन्त दूरी तय करा दे। वह साधन है श्रद्धा, समर्पण, विवेक, वैराग्य- जो भगवत्प्राप्ति के लिए चाहिए, वह सब भगवान् ने इस मानव-शरीर को प्रदान किया है।

उपदेश का समापन करते हुए भगवान् ने कहा, **'जौं परलोक इहाँ सुख चहहू। सुनि मम बचन हृदय दृढ़ गहहू।।'** यदि परलोक, परमश्रेय चाहते हैं अथवा

इसी लोक में सुख और समृद्धि चाहते हैं तो आप मेरी बात ध्यान से सुनें! डायरी में लिखकर नहीं बल्कि हृदय में दृढ़तापूर्वक धारण कर लें, जिससे इसकी स्मृति सदैव बनी रहे। वह है क्या? **'सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई।।'** सबके लिए सुलभ, सभी के लिए सुखदायी केवल एक ही मार्ग है मेरी भक्ति। यही श्रुतियों ने गाया है। सीताजी बगल में विराजमान थीं उनकी भक्ति नहीं कहा, हनुमान जी चँवर झल रहे थे उनकी भक्ति के लिए इंगित नहीं किया, बल्कि उन्होंने कहा कि मेरी भक्ति करो- यही श्रुतियों ने गाया है। समृद्धि चाहते हो मेरी भक्ति, सबके लिए केवल एक मार्ग- मेरी भक्ति! भजन केवल एक परमात्मा का करना चाहिए- मानस का सम्पूर्ण सत्य इतना ही है। अनन्त योनियाँ भोग-भोगने के लिए हैं, केवल मनुष्य कर्मों का निर्माता है। **'कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके।'-** मनुष्य-योनि में कर्मों के अनुसार बन्धन तैयार होता है। आपके भाग्य प्रारब्ध में कुछ नहीं लिखा हो, सब कुछ लिख जायेगा, यदि आप सम्यक् कर्मों का परिपालन करें। कर्म एक ऐसा यंत्र है कि आप भगवान् तक को प्राप्त कर सकते हैं।

भगवान् बुद्ध गंगा के किनारे चर्या कर रहे थे। एक ज्योतिषाचार्य उधर से निकले। उन्होंने पदचिन्ह देखा तो बैठ गये। पुस्तकों का गट्ठर खोला और उस पदचिन्ह का विश्लेषण करने लगे। उन्हें विदित हुआ कि वह पदचिन्ह चक्रवर्ती सम्राट का होना चाहिए। उन्हें लगा कि ज्योतिष झूठ है; क्योंकि चक्रवर्ती है तो वह फटेहाल नंगे पाँव क्यों घूम रहा है? कहाँ गया उसका चँवर, छत्र और ऐश्वर्य? उन्होंने पुस्तकों का गट्ठर गंगा में प्रवाहित कर देने का निश्चय किया। अकस्मात् उन्हें स्मरण हुआ कि पदचिन्ह तो तत्काल का है। यह सज्जन अभी समीप ही होंगे। देख तो लूँ कि वे हैं कौन? उन्होंने दाहिनें-बायें ढूँढ़ा। एक पीपल-वृक्ष के नीचे भगवान् बुद्ध पद्मासन लगाये ध्यानस्थ बैठे थे। आचार्य ने हाथ की रेखायें देखीं, पदचिन्हों का अवलोकन किया, ग्रीवा एवं मस्तक की रेखाओं का परितुलन किया और अन्ततः भगवान् बुद्ध को झकझोरते हुए बोले, ''महाशय! आप हैं कौन, आपने तो मेरे जीवन भर के परिश्रम पर प्रश्नचिन्ह लगा दिया है? मैंने तीस वर्ष तक मन लगाकर ज्योतिष विद्या पढ़ी। आप में मैंने चक्रवर्ती सम्राट के लक्षण पाये। इन लक्षणों से युक्त गत दो हजार वर्षों में केवल दो हुए हैं, तीसरे महानुभाव आप हैं। आपको सम्राट होना था; किन्तु आप मात्र एक खप्पर लेकर गली-गली भिक्षाटन कर रहे हैं। लगता है ज्योतिष झूठा है। हाथ-पाँव के मोड़ पर रेखायें स्वाभाविक हैं। इन रेखाओं से जैसा कुछ होना चाहिए वैसा है नहीं! कृपया अपना परिचय दें कि आप कौन हैं?''

बुद्ध ने कहा, ''पण्डित! तुम्हारा ज्योतिष सत्य है। मेरे जन्म के अवसर पर ज्योतिषाचार्यों ने कहा भी था कि यह बालक चक्रवर्ती सम्राट होगा। जब मैं बड़ा हुआ तो चक्रवर्ती सम्राट के लिए उपयुक्त व्यवस्थाएँ हो चली थीं किन्तु भजन के प्रभाव से मैंने उस संस्कार को काट दिया है। वह संस्कार अब मुझे विवश नहीं कर सकता। वह संस्कार मात्र भौतिक जीवनयापन का एक तरीका था, उससे शाश्वत कुछ नहीं होना था। भजन और तपस्या के प्रभाव से मैंने उस कुसंस्कार को छिन्न-भिन्न कर दिया है।''

'मंत्र महामनि बिषय व्याल के। मेटत कठिन कुअंक भाल के।।' असाध्य कुअंक, घोर नरक ही क्यों न लिखा हो, आपके भाग्य में यातनाएँ लिखी हों तो वह भी मिट जायेंगी, केवल आप श्रद्धा और समर्पण के साथ एक प्रभु का नाम लें। दो-ढाई अक्षर का कोई भी नाम (ॐ अथवा राम) जो सीधा उस परमात्मा को ही सम्बोधित करता हो, ऐसे नाम का जप समर्पण के साथ आरंभ भर कर दें- चलते-फिरते, उठते-बैठते नाम याद आता रहे, कंजूस के सोने की तरह कभी चित्त से न उतरे, विस्मृत न हो। शौच जाते, पानी पीते, भोजन करते, सोते-जागते सदैव स्मृति-पटल पर बना रहे, श्रद्धा-समर्पण भाव के साथ नियमित नाम-जप से चार-छः महीने में ही आप पायेंगे कि भगवान् आपके साथ हैं। अतः सब लोग श्रद्धा के साथ एक परमात्मा का भजन करें, आपकी सारी व्यवस्था भगवान् स्वयं करने लगेंगे।

'कर्म प्रधान बिस्व करि राखा'- विश्व में शुभाशुभ रचनाओं की जिम्मेदारी कर्म पर आती है। विश्व में कर्म ही सब कुछ है। अपना सत्कर्म वह है जो भगवान् के प्रति समर्पण द्वारा आपको अपने घर की ओर ले चले, अपने सहज स्वरूप की ओर ले चले, आपको अपने स्वरूप का दर्शन और स्थिति दिला दे। आपको पूर्ण कर दे वह पुण्य-कर्म और पतन के गर्त में ले जाय वह पाप-कर्म कहलाता है। संसार में कितना ही कुछ हो जाय, एक दिन सब छोड़कर जाना ही होता है। क्यों न वह कर्म करें जिससे भगवान् सदैव आगे-पीछे रक्षक के रूप में खड़े रहें।

मनुष्य कर्मों का निर्माता है। महाराज दशरथ के भाग्य में यह नहीं लिखा था कि वे पुत्र-वियोग में मरेंगे। यह इसी जन्म की उनकी कमाई थी। युवराज दशरथ यौवन के उमंग में शब्दवेधी बाण का अभ्यास कर रहे थे। जंगल में झुरमुट से पक्षी की आवाज आयी-चिक! उन्होंने शरसन्धान किया। चिड़िया पृथ्वी पर आ गिरी। बन्दर बोला- खाऊँ! तो वह भी जमीन पर आ गिरा। मृग बोला-पिक या बाघ ने दहाड़ा तो बाण सीधा उसकी छाती में लगा।

एक दिन एक घटना घट गयी। जलाशय से 'बुड़बुड़' की ध्वनि आयी। युवराज ने सोचा, हाथी पानी पी रहा है। उन्होंने तीर चलाया तो श्रवण की छाती में जा लगा। युवराज को पश्चाताप हुआ। श्रवण ने उन्हें आश्वस्त कर कहा- मृत्यु का कोई न कोई निमित्त तो होता ही है। आप चिन्ता न करें। मेरे माता-पिता प्यासे हैं, आप उन्हें जल पिला दें। मरणान्तक वेदना है, अब तब लगा है फिर भी उस पितृभक्त को माता-पिता के प्यासे होने की चिन्ता है अपनी नहीं। और कोई होता तो कहता कि आप तो युवराज हैं, पहले मेरा इलाज करावें। ऐसे ही भक्तों का इतिहास हमारी संस्कृति है। दशरथ ने तपस्वी दम्पत्ति को जल निवेदित किया। वे बोले, ''श्रवण! आज तुम बोलते क्यों नहीं हो? हमें व्याकुलता हो रही है। जब तक तुम बोलोगे नहीं, हम जल ग्रहण नहीं करेंगे।'' युवराज ने सारी परिस्थिति बता दी। तपस्वी बिगड़ खड़े हुए। उन्होंने शाप दिया ''जैसे पुत्र-वियोग में हम तड़प-तड़प कर मर रहे हैं वैसे ही तू भी तड़प-तड़प कर मरेगा।''

शाप एक प्रकार से वरदान भी था। दशरथ को उस समय तक कोई सन्तान न थी। कालान्तर में उन्हें चार पुत्र हुए। कैकेयी के दुराग्रह से राम को वन जाना पड़ा। उन तपस्वियों का आशीर्वाद फलीभूत हुआ, पुत्र हुए और वियोग भी हुआ। उसी वियोग में दशरथ का प्राणान्त हुआ। मृत्यु से पूर्व दशरथ ने कहा- ''कौशल्ये! अब तो तुम भी मुझे नहीं दिखायी देती। हमें केवल श्रवण कुमार के माता-पिता दिखायी दे रहे हैं। मेरा अन्त आ गया है।'' दशरथ मर भी गये। यह पूर्वजन्म का संचित नहीं, इसी जन्म का अर्जन था। अतः मनुष्य कर्मों का निर्माता है और कर्म ही विश्व में सब कुछ है। विश्व में आप अपनी सुरचना कर सकते हैं। भगवान् की गोद में अपने को फेंककर समर्पण के साथ चिन्तन करें, विश्व का पार पा जायेंगे। यदि आप भूल-भुलैया की ओर बढ़े तो आवागमन का दो चक्कर और बढ़ जायेगा।

प्रायः लोग कहते हैं कि यह सब हमारे कर्म में नहीं है, हमारे भाग्य में ऐसा कहाँ; किन्तु यदि मनुष्य शरीर मिला है तो आपका भाग्य पूर्ण है। इसके अतिरिक्त कर्म में कुछ लिखा हो या न लिखा हो, कोई अन्तर नहीं पड़ता। **'बड़े भाग मानुस तनु पावा'**- बड़ा भाग्य तो उसी दिन से है कि अधम योनियों में भटकते-भटकते आप इस घाट पर पहुँच गये कि मानुष तन पा गये। भले ही वह भिखारी की स्थिति में मिला हो या सम्राट की स्थिति में, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता; क्योंकि मनुष्य कर्मों का रचयिता है।

एक था केवट- **लोक वेद सब भाँतिहि नीचा। जासु छाँह छुइ लेइय सींचा।।** लोक और वेद दोनों में उसका स्थान निम्न था; किन्तु **'राम कीन्ह आपन जबहीं ते। भयउँ भुवन भूषन तबहीं ते।।'-** राम ने जिस दिन से अपना लिया, तीनों लोकों में पवित्र पुरुष था तो केवट। केवट भक्त शिरोमणि हो गया। आज बड़े आदमी किसी गरीब को अपनाते हैं तो कहते हैं- तुम हमारे हो, थोड़ी दूर बैठ जाओ। प्रभु ने ऐसा नहीं किया। राम अपनाते हैं तो अपना रामत्व प्रदान कर देते हैं, अपनी भगवत्ता में समाहित कर लेते हैं। भगवान् ने कहा- **तुम मम सखा भरत सम भ्राता। सदा रहेउ पुर आवत जाता।।** तुम मुझे उतने ही प्रिय हो जितना भाई भरत। हमारा घर तुम्हारा घर है, सदा आते-जाते रहना। राम ने उसे सीने से लगाया। गुरु वशिष्ठ का चरण-स्पर्श केवट करने लगा तो उन्होंने भी गले से लगाया। जब भी केवट अयोध्या में पहुँचता, भरत के समानान्तर उसे भी आसन मिलता था। वह भुवन भूषण कैसे हो गया। वास्तव में मनुष्य कर्मों का रचयिता है। **'जो जस करइ सो तस फल चाखा।'** बाल्यकाल से ही उसने सोचना प्रारम्भ किया कि कुछ कर्म में नहीं है। नाव इस पार उस पार करते, घोंघा-मछली मारते पूर्वज चले गये। खटो खाओ मर जाओ- बस इतना ही जीवन है या अन्य कोई रास्ता है? उसकी समझ में आ गया, वह चिन्तन करने लगा। राम के वियोग में वह नाव चलाना ही भूल गया। भगवान् ने उसके प्रेम का प्रवाह देखा, रास्ता बदलकर प्रभु उसके पास आये, उठा लिया, हृदय से लगा लिया, चरण भी धुला लिया और केवट भुवन भूषण बन गया। अतः मनुष्य कर्मों का रचयिता है न कि पूर्वकृत संस्कारों का दास।

लंका-अभियान में सागर-सन्तरण की समस्या आयी। विभीषण ने भगवान् राम को समुद्र से मार्ग देने की प्रार्थना का परामर्श दिया। भगवान् कुश की चटाई बिछाकर बैठ गये। लक्ष्मण को यह अच्छा न लगा। **'मंत्र न यह लछिमन मन भावा। राम बचन सुनि अति दुख पावा।। कादर मन कहु एक अधारा। दैव दैव आलसी पुकारा।।'** हे नाथ! दैव का क्या भरोसा? भाग्य, तकदीर, होनहार, संस्कार, मुकद्दर, प्रारब्ध इत्यादि दैव के पर्याय हैं। भाग्य में नहीं लिखा है तो हाथ जोड़ने से लिख उठेगा? दैव तो कायरों के मन की वैशाखी है। आप धनुष उठाइये, समुद्र ही सुखा दीजिए। भगवान् ने कहा- लक्ष्मण! ऐसा ही होगा, पहले हमें नीति का पालन कर लेने दो। तीन दिन उन्होंने नीति का पालन किया और चौथे दिन ज्योंही बाण का अनुसंधान किया, समुद्र एक स्वरूप धारण कर प्रस्तुत हुआ। उसने उपाय बताया कि आपकी सेना के दो युवक नल और नील विश्वकर्मा के बेटे हैं। उनके स्पर्श से पत्थर जल

पर तैरने लगेंगे। आप द्वारा निर्मित उस सेतु से सम्पूर्ण सेना सागर पार हो जायेगी और आपका सुयश वह सेतु अनन्त काल तक लोगों को प्रेरणा देता रहेगा।

वस्तुतः संसार ही समुद्र है। ब्रह्म आचरणमयी प्रवृत्ति ही वानरी सेना है। भगवान् ही इस सेना के संरक्षक हैं, अनुभवों के द्वारा सदैव साथ हैं। नल और नील नियम और नाम हैं। नाम को जब आप नियमित रूप देते हैं तो वह भवसागर पर तैरनेवाला हो जाता है। आपका हर संकल्प संसार की अभिवृद्धि करनेवाला, डुबोनेवाला है किन्तु नाम जब नियमित रूप ले लेता है तो हर संकल्प भगवान् के नाम से ओतप्रोत होने लगता है। नाम का इतना जप करो कि नियमित रूप ले ले, श्वास में प्रवाहित हो जाय। जहाँ स्वर-निरोध की स्थिति आई, संकल्प-विकल्प जिस क्षण शान्त हुए, स्वर स्थिर हुआ, इस निरोध के साथ ही इसकी ओट में जो सत्ता छिपी है उसी का नाम राम है। **'जे रामेस्वर दरसनु करिहहिं। ते तनु तजि मम लोक सिधरिहहिं।।'** सृष्टि में कभी भी कोई मनुष्य पार होगा तो यही सेतु है।

विश्वकर्मा का आशय है कि विश्व में कर्म ही प्रधान है। कर्म करते समय पूजन करें। पूजन विश्व के निर्माता की करें और आदेश का पालन करें कि-

नर तन भव बारिधि कहुँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो।।
करनधार सद्गुर दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा।।
जो न तरइ भव सागर, नर समाज अस पाइ।
सो कृत निन्दक मन्दमति, आत्माहन गति जाइ।।

अर्थात् मनुष्य शरीर भवसागर से पार होने के लिए जहाज है, मेरी अनुकूलता ही अनुकूल वायु है, सद्गुरु केवट हैं। मानव-तन का यह साज दुर्लभ है। ऐसे दुर्लभ मानव-तन को पाकर जो भवसागर नहीं तर जाता वह कृतनिन्दक है, करने से कतराता है, कल पर टालता है, मन्दमति है, बुद्धि का हलका है और अपनी आत्मा का हत्यारा है अतः मनुष्य कर्मों का रचयिता है। **'सो सुख करम धरम जरि जाऊ। जहाँ न राम पद पंकज भाऊ।।'** ऐसे शुभ कर्म करके आप वहाँ पहुँच सकते हैं जो अविनाशी पद, भगवान् का धाम है। वह आपका ही छिपा हुआ स्वरूप है। आपका अनन्त जीवन और शाश्वत शान्ति का पद है। उसे पाने के पश्चात् पुनः कोई कामना, कोई अभाव नहीं रहेगा। अशुभ कर्म करके आप भवाटवी में भटकेंगे, अपार संसृति का भ्रमण! सौभाग्य से आपको मानव तन मिला है तो विश्व का सर्वोत्कृष्ट कर्म नियत कर्म करके लोक में समृद्धि और परलोक में शाश्वत शान्ति के उपभोक्ता बन सकते हैं।

।। ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान् की जय।।

मूर्तिपूजा वैध या अवैध

बन्धुओ!

आज की जनसभा में आपकी ओर से कतिपय प्रश्न आये हैं। उनमें से एक सज्जन ने जानना चाहा है कि मूर्तिपूजा वैध है या अवैध?

यह विश्व के अत्यन्त विवादास्पद प्रश्नों में से एक है। मूर्तिपूजकों तथा मूर्तिभंजकों के संघर्षों से इतिहास भरा पड़ा है। विश्व में सर्वाधिक मूर्तियाँ भारत में हैं। तैंतीस करोड़ देवी-देवताओं की गणना तो कब की हो चुकी थी, आज भी उनकी अभिवृद्धि होती जा रही है। किसी की लाठियों की मार से मर गया तो ब्रह्म हो जाता है। आजकल बच्चों के नाम गुड्डू-गुड्डी रखते ही हैं। गुड्डी माई का एक चबूतरा है बरैनी गाँव में। कहीं थोड़ा-सा लाल रंग पोत दें, प्रणाम करनेवालों की कमी नहीं रहेगी, लाइन लग जायगी। आपके परिवार का भले ही नियोजन हो गया हो किन्तु देवी-देवताओं की वृद्धि पर कोई अंकुश नहीं है। देवताओं की कमी पड़ती है तो लोग मजारों की ओर बढ़ जाते हैं। विगत दो-ढाई हजार वर्षों में आपके धर्माचार्यों ने इन देवताओं को बढ़ाने का ही काम किया है। पूजन का आरम्भ गणेश से करके न जाने किन-किन देवताओं का नाम लेते चले जायेंगे, भगवान् का नाम लेते ही नहीं। अतः आपका प्रश्न विचारणीय है कि मूर्तिपूजा करनी चाहिए या नहीं करनी चाहिए।

वैसे तो पूरा विश्व ही मूर्तिपूजक है। पंचभूतों से निर्मित किसी आकार पर श्रद्धा स्थिर करना मूर्तिपूजा है। मंदिर, मस्जिद, चर्च, गुरुद्वारा, पुस्तक, आकाश इत्यादि सभी मूर्तिपूजा के अन्तर्गत हैं। कौन मूर्तिपूजक नहीं है?

यह भी सच है कि भारत में सबसे अधिक मूर्तियाँ हैं, मन्दिर हैं; किन्तु भारत मूर्तिपूजक नहीं है। ये मंदिर, मूर्तियाँ आध्यात्मिक देश भारत में अध्यात्म की शिशु कक्षाएँ हैं। माताएँ छोटे बच्चों को सिखाती हैं कि पिता को प्रणाम कर, बड़े भाई को प्रणाम कर। यह कुलदेवी हैं। घर के प्रत्येक कोने में भगवान् का कोई न कोई चित्र! वहाँ प्रणाम करो। धूपबत्ती जलाओ। तुलसी को प्रणाम करो, पीपल को प्रणाम करो। यह गंगा इत्यादि पवित्र नदियाँ हैं। सूर्य, चन्द्र इत्यादि नक्षत्र हैं। माताएँ सर्वत्र प्रणाम कराती हैं, जिससे बच्चों में आध्यात्मिकता के संस्कार पड़ जायँ। वे समझ लें कि कोई शाश्वत सत्ता है जो सक्षम है, हमें शक्ति देती है। महापुरुषों ने भजन के पूर्तिकाल में जिस तत्त्व को पाया, वह परमात्मा कण-कण में व्याप्त, ओत-प्रोत मिला इसलिए जड़-चेतन सबको प्रणाम करने का प्रशिक्षण बाल्यकाल से ही मिलने लगता है।

शनैः-शनैः अठारह-बीस वर्ष की आयु का होते-होते वही बालक इस चिन्तन में पड़ता है कि भगवान् एक है अथवा अनेक, हम भजन किसका करें? इस प्रश्न के समाधान-हेतु वह बड़े-बड़े विद्वानों से मिलता है। तीर्थों में, बड़े मन्दिरों में जाता है, सन्तों का सान्निध्य-लाभ करता है और जहाँ कहीं महापुरुष सद्गुरु मिल गये, उनसे साधन-क्रम समझता है फिर वह शान्त एकान्त झाड़ियों, कुटीरों और खंडहरों में पाया जाता है। आरंभ का वह कट्टर मूर्तिपूजक लौटकर कभी मन्दिर में नहीं जाता। साधना ने जहाँ सही दिशा पकड़ी तो वह जिज्ञासु शान्त वनस्थलियों में पाया जाता है। वह एकान्तसेवी हो जाता है।

बुद्ध मूर्तिपूजक थे; किन्तु मूर्तिपूजा का जितना खण्डन गौतम बुद्ध ने किया उतना अन्य किसी ने नहीं किया। महावीर मूर्तिपूजक थे। गृह-परित्याग से पूर्व सारे धर्म-कर्म वैसे ही करते थे जैसा आप करते हैं। गृहत्याग से पूर्व एक वर्ष तक उन्होंने ब्राह्मणों को एक करोड़ स्वर्ण-मुद्रा का दान दिया था। जैन कोई अलग धर्म रहा होता तो वे ब्राह्मणों को दान क्यों देते? आप-जैसी परम्पराओं का भी उन्होंने भली प्रकार निर्वाह किया; किन्तु जब साधना में प्रवृत्त हुए तो लौटकर मंदिर कभी नहीं गये। जड़ भरत, प्रत्येक महापुरुष, हमारे गुरुदेव और स्वयं हमारा भी यही इतिवृत्त है। अस्तु, भारत मूर्तिपूजक नहीं है। मूर्तिपूजा आध्यात्मिकता की प्रवेशिका मात्र है, जिससे बच्चे-बच्चे में आध्यात्मिकता का बीजारोपण हो सके।

शिशु के चेतन, अवचेतन मन पर संस्कारों के दूरगामी परिणामों की शोध कर भारतीय मनीषा ने गर्भाधान संस्कार की परिकल्पना कर ली। उन्होंने पाया कि गर्भस्थ बालक भी सुनता है, समझता है और आचरण में ढाल लेता है। अभी कुछ दिनों पूर्व एक सज्जन ढाई-तीन वर्ष का एक बालक लेकर आये, जो रामचरित मानस का ''नमामीशमीशान निर्वाणरूपं'' वाली शिव-स्तुति पढ़ रहा था। उन्होंने कहा कि यह बिना सिखाये पढ़ रहा है। जब यह गर्भ में था तो मैं प्रतिदिन इसकी माँ को यह स्तोत्र प्रातः-सायं सुनाया करता था और वह बड़े मनोयोग से तल्लीन होकर इसे सुनती थी। इसी प्रकार का कथानक महाभारत में अभिमन्यु का है, जिसने गर्भावस्था में ही चक्रव्यूह-भेदन कला का ज्ञान अर्जित किया था। महर्षि अष्टावक्र की कथा भी ऐसी ही है। उनके वेदपाठी पिता शिष्यों को श्रुतज्ञान दे रहे थे, उनकी माँ भी तल्लीन हो सुन रही थी। पाठ में त्रुटि होने पर गर्भस्थ शिशु ने टोंका। पिता जी क्रुद्ध हो गये- इतना टेढ़ा! अभी जन्मा भी नहीं, मुझे ललकार रहा है। शाप दिया कि आठ अंगों से टेढ़े हो जाओ। वही बालक अष्टावक्र के नाम से प्रसिद्ध हैं। उपनिषदों में उनकी

अनेक कथाएँ हैं। कहते हैं कि उन्होंने अपने पिता को विदेहराज जनक की कैद से मुक्त कराया था। अस्तु, बच्चे गर्भाधान से ही सीखना प्रारम्भ कर देते हैं। इसीलिये पूर्वजों ने इसी समय से एक परमात्मा का संस्कार बच्चे-बच्चे में डालना आरंभ किया।

इसके बाद जातकर्म, मुण्डन संस्कार, अन्नप्राशन संस्कार इत्यादि षोडश संस्कारों के माध्यम से केवल एक बात ही बतायी जाती है कि **'सहस्रशीर्षा पुरुषः'** अर्थात् वह परमात्मा अनन्त हाथ, पैर, मुखवाला है। उसके तेज के एक अंश मात्र से इस सृष्टि का सृजन और पालन है। पूर्व महर्षियों ने उसी एक परमात्मा को मानस यज्ञ द्वारा विदित किया। ब्रह्मा ने जिसका ध्यान किया, इन्द्र ने जिसकी स्तुति की, वही एक सत्य है, उसे धारण करो। बस इतना ही कर्मकाण्ड में बताया जाता है। काण्ड का अर्थ है घटना। जन्म एक घटना है, विवाह भी एक घटना है। इसी प्रकार जीवनपर्यन्त प्रमुख-प्रमुख अवसरों पर एक परमात्मा की शोध के लिए उत्प्रेरित करना, इस भावना का बीजारोपण करना भारतीय पुरोहितों का आध्यात्मिक अवदान (व्यवस्था) है।

शिशु कक्षाओं में 'क' माने कबूतर, 'ख' माने खरगोश, 'ए' फार एप्पल, 'बी' फार बैट पढ़ाया जाता है। प्रत्येक अक्षर को समझने के लिए बड़े-बड़े चित्रों की पुस्तक में भरमार रहती है। 'भेड़िया नन्हीं लाल चुन्नी की नानी बन बैठा'- जैसी कहानियाँ कुतूहलवर्द्धन मात्र के लिए होती हैं। वही बच्चे जब माध्यमिक कक्षाओं में जाते हैं तो महाराणा का भाला और चेतक, अकबर का साम्राज्य विस्तार जैसे कुछ स्वल्प ऐतिहासिक मानचित्र रह जाते हैं। वही छात्र स्नातक, परास्नातक और शोध कक्षाओं में पहुँचने पर मोटी-मोटी पुस्तकें पढ़ डालता है जिसमें एक भी चित्र नहीं रहता। वहाँ न तो कबूतर है न एप्पल। क्योंकि चित्रों के माध्यम से जिस आकृति का बोध कराना था उसे करा दिया, वर्ण पकड़ में आ गया तो चित्रों की उपयोगिता समाप्त हो गयी। ठीक इसी प्रकार ये मूर्तियाँ आध्यात्मिकता की प्राथमिक कक्षाएँ हैं, परिचयाक्षर हैं, आरम्भिक उपकरण हैं किन्तु मरने की घड़ी तक यदि आपका बच्चा ए फार एप्पल ही पढ़ता रहे तो शोचनीय है। इससे आगे भी कक्षाएँ हैं। इसी प्रकार मंदिर जाना भी उचित है किन्तु जीवनपर्यन्त जाना साधक की कायरता है।

विश्व स्तर पर भगवान् के मन्दिर तो अरबों-खरबों बने हैं किन्तु भगवान् की वास्तविक प्रतिमा एक में भी नहीं है। क्योंकि **'जिन देखा सो कहा नहीं, कहा सो देखा नाहिं। रहिमन अगम बात के, कहन सुनन को नाहिं।।'** जिन्होंने उसे देखा,

उसने कहा नहीं और जो कहता है कि भगवान् ऐसे हैं, उस बेचारे ने देखा ही नहीं। वस्तुतः वह अगम्य है, कहने-सुनने की बात नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि वह नित्य है, अगोचर है; इन्द्रियों से देखने-जानने में नहीं आता। मन और बुद्धि जहाँ तक निर्णय कर सकते हैं वहाँ तक भगवान् नहीं हैं। इसलिए इन्द्रियों का दमन, मन का शमन करके उन महापुरुषों ने उसे अनुभव की आँख से पाया। आदि शंकराचार्य ने कहा- अनिर्वचनीय! वाणी से उसका निर्वचन किया ही नहीं जा सकता, लेकिन तुम उसे प्राप्त कर सकते हो! कैसे ? **'करतल भिक्षा तरुतल वासं भज गोविन्दम् मूढ़मते!'** रे मूर्ख! भजन कर। हथेली पर भिक्षा और वृक्ष के नीचे निवास करने को मिले तब भी **'भज गोविन्दम्'**- हर हालत में भजन कर! कबीर ने कहा, **'लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित लाल। लाली देखन मैं गयी, मैं भी हो गई लाल।।'** उन्होंने भगवान् के सहज प्रकाश को लाली की संज्ञा दी। उस मेरे लाल की लाली ही सर्वत्र व्याप्त है- **'जित देखूँ तित लाल।'**, **'ईशावास्यमिदं सर्वम्।'** जहाँ उस लाली का स्पर्श हुआ, मैं भी लाल हो गया, तद्रूप हो गया, उसी में समाहित हो गया। पूज्य महाराज जी कहते थे कि नमक की पोटली समुद्र का थाह लेने गयी और समुद्र ही होकर रह गयी, उसी में विलीन हो गयी; लौटकर संदेशा कौन दे?

प्रत्येक महापुरुष का एक ही निर्णय है। गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं कि **'तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई।'**- भगवन्! आपकी कृपा से विरला ही कोई आपको प्राप्त करता है। जब पाता है तो भगवान् हैं कैसे? **'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।'** वह तुम्हें जानकर तुम ही हो जाता है। सेवक सदा के लिए खो जाता है, स्वामी ही शेष बचता है। गोस्वामी जी एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं- **'सुरसरि मिले सो पावन कैसे। ईस अनीसहिं अन्तर जैसे।।'** एक बूँद जल का स्पर्श यदि गंगा से करा दिया जाय तो बूँद का पृथक् अस्तित्व ढूँढ़ने से भी नहीं मिलेगा। वह बूँद भी गंगा कही जायेगी। गंगा की धारा सर्वत्र दिखायी देगी। ठीक इसी प्रकार ईश्वर का विशुद्ध अंश यह जीवात्मा है। साधना के सही दौर में पड़कर, अंशी उस परमात्मा का स्पर्श करने पर **'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई'** उसी में मिल गया। जो अधिक था उसका नाम शेष रहता है, जो अंश मात्र था उसकी संज्ञा अंशी में समाहित हो जाती है। यही है सहज स्वरूप की प्राप्ति- कैवल्य पद। इसलिए भगवान् के मन्दिर तो बहुत बने किन्तु उसकी प्रतिमा किसी में भी नहीं है।

गोस्वामी जी ने इस प्रश्न को कई दृष्टियों से समझाने का प्रयास किया है। माता पार्वती जी ने भगवान् शंकर जी से प्रश्न किया कि, जिसका आप दिन-रात

चिन्तन करते हैं वह राम कौन हैं- **'रामु सो अवध नृपति सुत सोई। की अज अगुन अलखगति कोई।।'** राम वही हैं जो अयोध्या नरेश के पुत्र थे या अलख अविनाशी कोई अन्य? **'जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि, नारि बिरह मति भोरि। देखि चरित महिमा सुनत, भ्रमित बुद्धि अति मोरि।। (मानस, १/१०८)** यदि वे राजा के पुत्र हैं तो ब्रह्म कैसे? एक स्त्री के विरह में हाय सीते! हाय सीते! करनेवाला, वृक्षों और लताओं से उसका पता पूछनेवाला ब्रह्म कैसे हो सकता है? वृक्षों ने कभी पहले भी इनसे वार्तालाप किया था क्या? **'देखि चरित महिमा सुनत, भ्रमित बुद्धि अति मोरि।।'** इधर उनके ऐसे चरित्र को देखकर और उधर महिमा देखकर कि जिधर देखा राम, लक्ष्मण और सीता को खड़ा पाया, आँखें मूँद ली, इसलिए मेरी बुद्धि में एक भ्रम है कि राम कौन हैं? कैसे हैं?

भोलेनाथ पहले तो बिगड़ खड़े हुए, फिर ध्यान धर के देखा और बोले, हे पार्वती! यह प्रश्न तुम्हारा है ही नहीं, तुम्हें तो कोई सन्देह ही नहीं है; किन्तु संसार का यह प्रश्न अवश्य है। जगत् के हित के लिए तुमने प्रश्न किया है तो सुनो, **'आदि अन्त कोउ जासु न पावा। मति अनुमानि निगम अस गावा।।'** आदि अर्थात् कब जन्म और अन्त अर्थात् रहेगा कब तक, यह तो कोई नहीं जान सका; किन्तु अपने विवेक के अनुसार वेदों ने उसका गायन इस प्रकार किया है कि **'बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना।।'** बिना पैरों के वह सर्वत्र चलता है, बिना हाथों के सर्वत्र कार्य करता है। **'तन बिनु परस नयन बिनु देखा।'**- बिना शरीर के वह स्पर्श करता है, बिना आँखों के सर्वत्र देखता है। अब बुलाओ कोई फोटाग्राफर! खींच ले उसका चित्र, जो बिना पैर के चल रहा है, बिना शरीर के स्पर्श कर रहा है। **'असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी।।'**- अलौकिक अर्थात् सृष्टि से परे जिसकी रहनी है, जिसकी महिमा वाणी का विषय नहीं है, अनुभवगम्य है। अन्त में निर्णय देते हैं- **'जेहि इमि गावहिं वेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान। सोइ दसरथ सुत भगत हित, कोसलपति भगवान।।'** जिसे इस प्रकार वेद और बुध अर्थात् प्रत्यक्षदर्शी तत्त्वदर्शी महापुरुष गायन करते हैं, मुनि लोग जिसका ध्यान धरते हैं वह है दशरथ सुत, भक्त के हितैषी, कोशल के स्वामी भगवान्। मुनि लोग किसी मूर्ति का ध्यान नहीं धरते। मुनि लोग उसका ध्यान धरते हैं जो बिना पैरों के चलता है, बिना आँखों के देखता है, जिसकी करनी हर तरह से अलौकिक है- यदि कोई कदाचित् इसके अतिरिक्त किसी का ध्यान धरता है तो वह अभी मुनि ही नहीं है।

भगवान् दशरथ सुत हैं। मानस वस्तुतः आत्मदर्शन की कुंजी है इसलिए रहस्यात्मक ही है। मानस मन को, अन्तःकरण को कहते हैं। रामचरित मानस अर्थात् राम के वे चरित्र जो आपके अन्तःकरण में प्रसारित हैं। ये हैं सबमें किन्तु दिखाई तो नहीं देते? सूक्ष्मता से मन का विश्लेषण करें तो काम के चरित्र, लोभ-मोह के चरित्र, राग-द्वेष के चरित्र दिखाई पड़ेंगे, राम के चरित्र तो नहीं दिखाई पड़ते। अब राम के प्रसुप्त चरित्र जिस प्रकार जागृत होते हैं, जागृत होकर आपसे रामपर्यन्त की दूरी तय कराते हैं वह साधना-विधि इस रामायण में अंकित है। यह पूरी की पूरी रामायण मानसिक है। आपके मन के अन्तराल में प्रसुप्त राम अर्थात् उस परम चेतन की जागृति और रामपर्यन्त दूरी तय करा देनेवाली प्रक्रिया इस मानस में है। इसमें दसों इन्द्रियों की निरोधमयी प्रवृत्ति ही दशरथ है। विषयों के सेवन से मन का निरोध होता नहीं। **'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई।', 'सेवत विषय विवर्ध जिमि, नित नव नूतन मार।'** इच्छा और भड़क उठेगी। मन का जब भी निरोध होगा भजन से होगा, भगवान् के सुमिरन से होगा। सुमिरन में श्रद्धा की डोरी लग जाय, दसों इन्द्रियाँ संयमित होकर एक इष्ट की दिशा में जिस क्षण प्रवाहित हुईं कि राम प्रकट हो जायेंगे।

भगवान् भक्त-हितैषी हैं। भक्त वही है जो सम्पूर्ण इन्द्रियों की चेष्टाओं को समेटकर एक हरि का सुमिरन करे। कोश कहते हैं आत्मिक सम्पत्ति के संग्रह को! वही आपका निजधन है, जो एक बार प्राप्त हो जाय तो निश्चित मुक्ति देकर ही दम लेता है। उस सम्पत्ति का जो मालिक है, वह है भगवान्।

यही कारण है भगवान् के मन्दिर अवश्य बने किन्तु भगवान् की मूर्ति किसी मन्दिर में कहीं नहीं है, हो भी नहीं सकती। क्योंकि वह बिना पैरों के चलता है, अलौकिक है, जिसने जाना उसी में समा गया, लौटकर किसी ने कहा नहीं, अनिर्वचनीय है। **'कह कबीर गूँगे की शक्कर खाय सोई पै जाने।'** गूँगा शक्कर खाता है, सिर हिलाता है, मुस्कराता है; किन्तु उसके स्वाद का वर्णन नहीं कर सकता। इसलिए जितनी भी मूर्तियाँ हैं अधिकांशतः उन महापुरुषों की हैं जो परमात्मा का स्पर्श करके परमात्म-भाव को प्राप्त हो गये हैं। मूर्तियाँ कैवल्य-पद प्राप्त परमात्मस्वरूप महापुरुषों की हैं अतः परमात्मा की हैं। हमारे वे पूर्वज परमात्म-स्वरूप हैं चाहे वे कृष्ण हों, राम हों, नानक या बुद्ध हों अथवा भगवान् महावीर हों या शिव हों। ऐसे ही श्रद्धास्पदों की मूर्तियाँ मन्दिरों में विराज रही हैं। महापुरुष जिस भी रूप में सृष्टि में आ जाते हैं उस रूप का स्मरण करते ही वह तुरन्त प्रेरणा देंगे, मार्गदर्शन करेंगे।

महापुरुष का वह स्वरूप कभी मरता नहीं। पूज्य महाराज जी कहा कहते थे- हो! मैं कभी मरिहौं न। शरीर तो छूट जायेगा लेकिन मैं मरिहौं न। सूक्ष्म शरीर से मैं सदैव यहाँ विद्यमान रहूँगा। जो कहीं से मुझे पुकारेगा मैं उसकी मदद करूँगा।

हमने प्रश्न किया कि, महाराज जी! यदि शरीर रखा जाय तो? उन्होंने कहा- हो! वृद्धावस्था में कष्ट होता है, खाँसी-खुर्री रहती है। जिस कमी की पूर्ति के लिए शरीर मिला था वह पूर्ण हुआ, भजन का परिणाम निकल आया, स्वरूप मिल गया तब क्यों रखा जाय? बड़े-बड़े अवतार हुए, ऋषि-महर्षि हुए, आज किसी का भी तो शरीर नहीं दिखायी देता। किसी न किसी निमित्त से शरीर तो त्यागना ही होगा। तुम लोग शरीर को देखते भर हो; किन्तु यह है नहीं। ठीक पाँचवें दिन महाराज जी ने शरीर छोड़ दिया। अत्रि महाराज भी आज हैं। हर महापुरुष आज भी हैं। श्रद्धा से आप उनका स्मरण करेंगे तो वे आपका मार्गदर्शन करेंगे; किन्तु आप जब भली प्रकार भजन के पथ पर आ जायेंगे तो वर्तमान में जो महापुरुष इसी स्थितिवाले भगवत्ता को प्राप्त होंगे, वे करुणा करके उन महापुरुष से आपका सम्बन्ध जोड़ देंगे, उनकी गोद में फेंक देंगे। **'सद्गुरु मिले जाहि जिमि संशय भ्रम समुदाय।'** सन्देह और भ्रम समूल नष्ट हो जाते हैं; साधना गति पकड़ लेती है।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन! कामनाओं से जिनकी बुद्धि आक्रान्त है वे मूढ़बुद्धि अविवेकीजन अन्य देवताओं की पूजा करते हैं। जिनकी पूजा करते हैं वहाँ उस देवता नाम की कोई सक्षम सत्ता नहीं है; किन्तु मैं सर्वत्र हूँ इसलिए जहाँ मनुष्य की श्रद्धा पेड़ में, खम्भे में, पौधे में, मूर्ति में या कहीं भी टिक गयी, उसकी ओट में खड़ा होकर मैं ही उसकी देवश्रद्धा को पुष्ट करता हूँ, फल का विधान करता हूँ। फल तत्काल मिलता है; किन्तु भोगने में आ जाता है और नष्ट हो जाता है।

जब फल मिलता ही है तो आपत्ति क्या है? किसी की भी पूजा करें? नहीं, श्रीकृष्ण कहते हैं- अर्जुन! देवताओं को पूजनेवाले मेरी ही पूजा करते हैं किन्तु वह पूजन अविधिपूर्वक है, इसलिए नष्ट हो जाता है। जब पूजन करना ही है तो विधिपूर्वक क्यों न करें, जब श्रम ही करना है तो उस प्रकार से क्यों न करें कि वह नष्ट न हो, सदा हमारा साथ दे। विधि भी योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया कि वह विधि है नियत कर्म, गीतोक्त कर्म। एक आत्मा ही परमपूज्य, नित्य, सत्य, सनातन तत्त्व है; भगवान् है। उसको पाने की एक नियत विधि है, उसका नाम यज्ञ है। उस यज्ञ को कार्यरूप देना नियत कर्म है, एक निश्चित विधि है। मनुष्य शरीर मिला है तो उसका दायित्व उतना ही है इसलिए यही 'कार्यम् कर्म' है। वह कर्म केवल मेरे निमित्त है, मेरी प्राप्ति

का उपाय है इसलिए वही 'मदर्थ कर्म' कहलाता है। कामनाओं से रहित होकर मेरा चिन्तन कर। अतः इसे कर्म कहा गया है इसलिए गीता में निर्धारित विधि से पूजन करना चाहिए। इसी चिन्तन-क्रम में जहाँ कहीं उसे तत्त्वदर्शी मिल गये, रास्ता मिल जाता है। वह अपने सही मार्ग पर अग्रसर हो जाता है। भजन जागृत हो जाता है।

अर्जुन ने प्रश्न किया- भगवन्! उस ज्ञान को मैं कहाँ प्राप्त करूँ? भगवान् बोले, ''किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष के पास जाकर निष्कपट भाव से सेवा और प्रश्न करके तुम उसे प्राप्त करो। उनसे जान लेने के पश्चात् तुम्हें फिर कभी सन्देह नहीं होगा कि रास्ता इधर सही या उधर, भजन यह सही या वह, कभी सन्देह नहीं होगा और तुम उस ज्ञान को प्राप्त कर लोगे जिसके पश्चात् कुछ भी पाना शेष नहीं रहता।''

क्यों? स्वयं भगवान् ही सामने खड़े थे, किसी तत्त्वदर्शी के समक्ष भेजने की क्या आवश्यकता थी? भगवान् श्रीकृष्ण के ही शब्दों में वह भी एक तत्त्वदर्शी हैं, पुरुषोत्तम हैं, योगेश्वर हैं। जो स्वयं योगी हो तथा दूसरों को भी योग प्रदान करने की जिसमें क्षमता हो, उन्हें योगेश्वर कहते हैं। वह योग का ईश्वर, योग का विशेषज्ञ, योग का स्वामी, प्रेरक और संचालक होता है। भगवान् श्रीकृष्ण जानते थे कि आज का यह अधिकारी पात्र हमारे समक्ष है, भविष्य की पीढ़ी को सन्देह न हो जाय कि भगवान् तो गये अब भजन किसका करें? पूछें किससे? इसलिए उन महापुरुष ने साधक को तत्त्वदर्शी महापुरुष की शरण भेजा।

अस्तु, मूर्तिपूजा जैसी छोटी-छोटी पूजाओं से होता हुआ साधक जब उन्नत अवस्थाओं (कक्षाओं) में पहुँचता है, तत्त्वदर्शी महापुरुष का सान्निध्य मिल जाता है। उनसे साधना मिलने पर वही साधक शान्त एकान्त वातावरण में, जहाँ पूजा करनी चाहिए वहाँ पूजा करने लगता है।

आरम्भ में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को नहीं बताया; किन्तु अठारहवें अध्याय में पहुँचते-पहुँचते अर्जुन ने प्रश्न करना बन्द कर दिया, उसकी शंकाओं का शमन हो गया। जो वह नहीं पूछ सकता था, भगवान् ने स्वयं बता दिया। अन्त में पात्रता देख भगवान् ने स्वयं बताया कि ईश्वर रहता कहाँ हैं? **'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।' (गीता, १८/६१)**- वह ईश्वर सब प्राणियों के हृदय-देश में निवास करता है। इतना समीप हृदय के अन्दर फिर लोग जानते क्यों नहीं? भगवान् ने बताया- अर्जुन! मायारूपी यंत्र में आरूढ़ होकर लोग भ्रमवश इधर-उधर भटकते ही रहते हैं, इसलिए नहीं जानते। उसे जानने के लिए शरण किसकी जायँ? अगले

ही श्लोक में भगवान् कहते हैं- **तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत। तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।। (गीता, १८/६२)** उस हृदय-स्थित ईश्वर की शरण जाओ, सम्पूर्ण भावों से जाओ। आधा भाव पशुपतिनाथ में, कुछ भाव वैष्णो देवी में, कुछ कामाख्या देवी और मैहर देवी में, इस प्रकार आपके भाव तो बिखर गये। हर जगह आपका भाव ही तो घसीटकर आपको ले जाता है। इस प्रकार भगवान् नहीं मिलेंगे। उन्हें पाने के लिए सम्पूर्ण भावों से, पूरे मनोयोग से, अनन्य भाव से हृदय-स्थित ईश्वर की शरण जाओ।

मान लें, हमने सारी मान्यताएँ तोड़ीं, एक ईश्वर की शरण चले ही गये तो लाभ क्या है? इस पर भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि उसकी कृपा-प्रसाद से तुम परम शान्ति प्राप्त कर लोगे, उस स्थान को प्राप्त कर लोगे जो शाश्वत है। इसलिए जहाँ सद्गुरुओं से विद्या मिल गयी, वह पूजा वहाँ करता है जहाँ करनी चाहिए। वह हृदय में पूजन करता है, **'बिन पद चलइ सुनइ बिनु काना।' 'जाहि धरहिं मुनि ध्यान।'** उसका ध्यान करने लग जाता है। आरम्भ में हर कोई मूर्तिपूजक होता ही है। जहाँ उस कक्षा को उत्तीर्ण कर वह उन्नत श्रेणी में प्रवेश पाता है तो पिछली कक्षाओं में पुनः नहीं बैठता। अतः मन्दिर में जाना शुभ है, कल्याणकारी है; किन्तु जीवनपर्यन्त जाना, उन्नत कक्षाओं के लिए न सोचना, इतने से ही भजन की पूर्ति मान लेना यह नासमझी उस पथिक की अवस्था है। मूर्तिपूजा एक पड़ाव है, प्राथमिक कक्षा है इसलिए एक सीमा तक वैध है। इससे आगे बढ़ने पर यह सब कुछ छूट जाता है। वह वहीं पूजन करने लगता है जहाँ पूर्व मनीषियों ने की।

मनुष्य मात्र के लिए यही व्यवस्था लागू होती है। कोई दार्शनिक हो या बड़ा वैज्ञानिक हो, ज्ञाता हो किन्तु इस आध्यात्मिक परिवेश में वह पाँच साल का अबोध बालक प्राइमरी का छात्र ही होता है; क्योंकि उसकी खोजें भौतिक पदार्थों तक ही सीमित हैं, सत्य पर नहीं। पृथ्वी के बीच एक-एक कण एवं सम्पूर्ण शोध कर लिया हो किन्तु संसार का ही चक्कर लगाया, मनुष्य के एक पार्थिव जीविका तक सीमित है, किन्तु आत्मिक सत्यपथ की नहीं। ईश्वर कभी एक से दो हुआ ही नहीं। यदि है तो यह धोखा है। इसलिए एक परमात्मा में श्रद्धा रखकर जो उनका परिचायक हो, छोटा दो-ढाई अक्षर का ओम्, राम अथवा कोई नाम जो उस परमात्मा का बोध कराता हो उसका चिन्तन व वर्तमान में उपस्थित सन्त महापुरुष का शरण, सान्निध्य एवं सत्संग करें, सब मार्ग सुलभ-प्रशस्त होता चला जायेगा।

।। ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान् की जय ।।

ध्यान

(ब्रह्मलीन स्वामी श्री ओमप्रकाशानन्दजी की प्रतिमा का अनावरण करते हुए कछवा, मिर्जापुर (उ0प्र0) की विशाल जनसभा में दिनांक १.१२.२०००, शुक्रवार को पूज्य महाराजजी द्वारा ध्यान-सम्बन्धी जिज्ञासाओं का निराकरण।)

बन्धुओ!

आप सबकी श्रद्धा के प्रतीक इस समारोह में दूर-दूर से पधारे हुए सन्त-महात्माओं सहित विशाल जनसमूह की उपस्थिति स्वामी ओमप्रकाशानन्द जी की अगाध लोकप्रियता के अनुरूप ही है, जिससे हम सभी आनन्दित हैं। महात्माओं की ओर से ध्यान-सम्बन्धी प्रश्न आये हैं। उनमें से कुछेक ने जगह-जगह ध्यान-शिविरों में प्रशिक्षण भी प्राप्त किया है किन्तु उन्हें शान्ति नहीं मिल रही है। उनका आग्रह है कि हम भी ऐसे शिविरों का आयोजन करें। एक ने पूछा है- ध्यान किसका करें? समाज में ध्यान को लेकर अनेक उलझनें हैं। गुरुदेव भगवान् की पावन कृपा के आलोक में आइए आज इन्हीं प्रश्नों को सुलझाने का निमित्त बनें।

भारत और विदेशों में ध्यान-शिविर लगाये जाते हैं, जिनमें प्रत्येक के तरीके भिन्न-भिन्न हैं। कतिपय मनीषियों ने ध्यान से पूर्व हठयोग के नाम से प्रचलित नेति, धौति, वस्ति, नौलि, त्राटक और कपालभाति के षट्कर्मों के सम्पादन पर बल दिया है। अन्य मनीषी ध्यान के लिए बताते हैं कि पहले लेटकर पाँव का अँगूठा देखो, बड़ी उँगली देखो, अब छोटी उँगली देखो। भावना करते रहो कि हम संकल्पहीन शिथिल होते जा रहे हैं। इस प्रकार शरीर के अंगों को शिथिल करते शिर तक चले जाओ और अचेत हो जाओ- यही ध्यान है। तंत्र आख्यायिकाओं में ध्यान के लिए मूलबन्ध, जालन्धर बन्ध या खेचरी इत्यादि मुद्राओं को सहायक बताया गया है। कोई मनीषी किसी पुष्प पर ध्यान केन्द्रित कराते हैं तो कोई 'ऐं', 'क्लीं' जैसे किसी अक्षर या नाद को माध्यम बनाते हैं। एक विश्वविश्रुत आचार्य भस्त्रिका प्राणायाम जैसी विद्या का निर्देश करते हैं कि लुहार की भाथी की तरह तीव्र श्वास लो और छोड़ते जाओ। थककर शान्त होते ही आप में ध्यान घटित होने लगेगा। 'योग' सिखानेवाले अनेक आचार्य मंत्रों की कमेन्ट्री बोलते हैं, जिसे सुनकर साधक अचेत होने का प्रयास करते हैं। इसी प्रकार कोई गायत्री इत्यादि देवी-देवताओं के रूप को पकड़कर ध्यान कराते हैं तो कोई शरीर के स्पन्दनों में ध्यान लगाते हैं। हमें देखना है, ध्यान के विषय में हमारे आर्ष-ग्रन्थों में क्या निर्देश है?

रामचरित मानस के अनुसार ध्यान साधना का आरम्भ नहीं है, ध्यान साधना का परिणाम है। अरण्यकाण्ड का प्रसंग है। महर्षि अगस्त्य अपने युग के सर्वोपरि महापुरुष थे। उन्हीं के दिये हुए बाण से दशानन मारा जा सका था। उन महर्षि के सहस्रों शिष्य थे। उनमें से एक सुतीक्ष्ण जी थे। वे बड़े भोले-भाले थे। उनकी सरलता से प्रभावित हो गुरुदेव ने उन्हें एक सरल-सी सेवा दे दी- तुम पूजा की चौकी साफ किया करो, शालिग्राम जी को नहलाया करो। आश्रम के समीप कावेरी नदी थी। किनारे जामुन के वृक्ष थे। उसी शालिग्राम से वे जामुन तोड़ते। क्रमशः जामुन ऊपरी शाखाओं में बचे तो खींच-खींचकर मारने लगे।

एक दिन शालिग्राम जी नदी में चले गये। सुतीक्ष्ण ने बहुत डुबकियाँ लगाई किन्तु वह नहीं मिले। उन्होंने एक गोल-मटोल सी जामुन चौकी पर रख दी। गुरुदेव ने चन्दन लगाना चाहा तो उँगली जामुन में धँस गयी। सुतीक्ष्ण को बुलाया, पूछा- यह क्या है? उन्होंने कहा, ''गुरुदेव! शालिग्राम।' गुरुदेव ने पूछा, ''यह इतना कोमल कैसे हो गया?'' वे बोले- **''पुनि पुनि चंदन पुनि पुनि पानी। सालिक सड़ गये हम का जानी?''** महर्षि ने कहा- ''वाह रे ब्रह्मज्ञानी! अब जाओ असली भगवान् को लेकर ही आना अन्यथा दिखायी न पड़ना।'' जो आश्रम था वह भी छूटा।

आश्रम में रहते-रहते सुतीक्ष्ण जी को साधन-क्रम तो ज्ञात ही था। वे जंगल में एक कुटी बनाकर रहने लगे।

ऋषि अगस्ति कर सिष्य सुजाना। नाम सुतीछन रति भगवाना।।
मन क्रम वचन राम पद सेवक। सपेनहुँ आन भरोस न देवक।।

वे मन-क्रम-वचन से राम के चरणों के सेवक थे। स्वप्न में भी दूसरे देवता का भरोसा उन्हें नहीं था। वे चिन्तन में लग गये। एक दिन सुतीक्ष्ण को पता चला कि प्रभु कहीं समीप आ गये हैं। वे अपने भाग्य को कोसने लगे। **'हे बिधि दीनबन्धु रघुराया। मोसे सठ पर करिहहिं दाया।'** मेरे ऐसे धूर्त पर भी क्या वे दया करेंगे? कमी क्या थी उनमें? **'मोरे जिय भरोस दृढ़ नाहीं। भगति बिरति न ज्ञान मन माहीं।।'** मेरे हृदय में दृढ़ भरोसा नहीं है, भक्ति नहीं है, वैराग्य नहीं है। कोई भी गुण तो नहीं है, जिससे प्रभु अनुकम्पा करेंगे? **'नहिं सतसंग जोग जप जागा। नहिं दृढ़ चरन कमल अनुरागा।।'** जप भी सन्तोषजनक नहीं है। योग-साधना भी नहीं हो रही है। चरणों में अचल अनुराग भी तो नहीं है। प्रभु का एक गुण स्मरण आया- **'एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की।।'** प्रभु की एक विरुद है कि जिसे अन्य किसी का भरोसा न हो, प्रभु उस पर अवश्य कृपा करते

हैं। इतना विचार आते ही मन में निश्चय हुआ- **होइहैं सुफल आज मम लोचन। देखि वदन पंकज भव मोचन।।** भाव सुदृढ़ होते ही सुतीक्ष्ण प्रेम-विह्वल हो गये। जहाँ स्वरूप हृदय में आया, वे अचल स्थिर होकर बैठ गये। **'मुनि मग माँझ अचल होई वैसा। पुलक शरीर पनस फल जैसा।।'** वे बीच रास्ते में अचल, स्थिर बैठ गये।

क्या कोई पगडण्डी थी कि सुतीक्ष्ण जी उसके बीचोबीच बैठ गये? नहीं, सृष्टि में दो ही मार्ग हैं- प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग। प्रवृत्ति मार्ग कहीं पहुँचाता नहीं बल्कि संसार के आवागमन चक्र में अनन्त काल तक भटकने का पर्याय है। निवृत्ति मार्ग भक्ति-मार्ग है जो भगवान् का स्पर्श करा शान्त हो जाता है। आगे कोई सत्ता ही नहीं तो ढूँढ़ेगा किसे? चलकर जायेगा कहाँ? इसलिए भक्तिमार्ग में जप-तप, नियम-संयम का अभ्यास करते-करते जहाँ प्रेम का अविरल प्रवाह हुआ, भगवान् तुरन्त हृदय में प्रकट हो जाते हैं- **'अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा। प्रकटे हृदय हरन भव भीरा।।'**

भगवान् समीप आ गये। **'मुनिहि राम बहु भाँति जगावा। जाग न ध्यान जनित सुख पावा।।'** विविध तरीकों से भगवान् ने उन्हें जगाने का उपक्रम किया; किन्तु मुनि ध्यान में तल्लीन थे, नहीं जगे। भगवान् ने एक उपाय किया। ध्यान का स्वरूप परिवर्तित हो गया। मुनि विकल होकर उठ खड़े हुए। हृदय में जो स्वरूप था वही बाहर दृष्टिगोचर हुआ। मुनि चरणों में गिर पड़े। प्रभु राम ने कहा, ''ऋषिवर! आपके गुरुजी का दर्शन करना है। आपके साथ चलना चाहता हूँ।'' सुतीक्ष्ण जी ने कहा, ''प्रभु! आपको किसी का दर्शन नहीं करना है। आप तो मेरे गुरु की आज्ञा की पूर्ति कर रहे हैं। गुरुदेव ने कहा था कि असली भगवान् लेकर आना, आप वही पूरा कर रहे हैं।''

वस्तुतः **'हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रकट होहिं मैं जाना।।'** भगवान् सर्वत्र समान रूप से व्याप्त हैं किन्तु प्रेम से ही प्रकट होते हैं। इसी प्रकार सुतीक्ष्ण जी भजन तब भी करते थे जब गुरुदेव के आश्रम में थे। आरंभ में वे सेवारत थे, भजन-विधि प्राप्त किया। शनैः-शनैः अभ्यास का उत्थान होते-होते भजन-कुटीर के एकान्त में भजन करने लगे। दिशि और विदिश का भान नहीं रह गया। **'कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई।'** चलते-फिरते, उठते-बैठते एक धुन सवार हो गई। भगवान् ने प्रीति का अविरल प्रवाह देखा, ध्यान की स्थिति आयी, भगवान् हृदय में प्रकट हो गये। हृदय में ध्यान स्थायित्व ले लेता है तो **'सीयराम मय सब जग जानी।'** **'जहँ**

तहँ देख धरे धनु बाना।' ईश्वर प्रकट हो जाते हैं। अस्तु, ध्यान परिणाम है। शिविर लगाने से ध्यान कभी नहीं आयेगा। ध्यान के लिए भजन कैसे करें? किसका करें? इसकी विधि जानना चाहिए। शनैः-शनैः हृदय में ईश्वर के प्रति प्रेम की अभिवृद्धि करें, एक परमात्मा में श्रद्धा स्थिर करें। प्रेम का अविरल प्रवाह जिस क्षण होगा, तत्क्षण भगवान् प्रकट हो जायेंगे। ध्यान की स्थिति आ जायेगी। ध्यान तो परिणाम है न कि साधन का आरम्भ। आरम्भ तो है कि इन्द्रियों का संयम कैसे करें? मन का शमन कैसे करें? इष्ट कौन है? इसका निश्चय करके साधना में लग जाना ईश्वरीय प्रेम का उत्स (उद्गम) है। प्रेम कहने से नहीं होता। यह तो सतत् अभ्यास और श्रद्धा से हो जाता है। इसके पश्चात् ही ध्यान का स्तर आता है।

मानस के ही एक अन्य प्रसंग पर दृष्टिपात् करें। किष्किन्धाकाण्ड के बालि-उद्धार प्रकरण में है- **'जिति पवन मन गो निरसि करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं।'** पहले श्वास-प्रश्वास का यजन करते हुए पवन को जीतते हैं, श्वास में उठने वाले संकल्प-विकल्प के उद्वेग को, वायुमण्डल को जीतते हैं। मन और इन्द्रियों को भली प्रकार विषयरूपी रस से निरस करने के उपरान्त ही मुनिजन सतत् अभ्यास के फलस्वरूप कभी उन प्रभु का ध्यान पाते हैं। **'ध्यान कबहुँक पावहीं।'**- यह परिणाम है न कि आरंभ। पहले इन्द्रियाँ संयमित, विषय-रस से शून्य किस प्रकार हों, श्वास की गति, मन का वेग स्थिर कैसे हो?- इस विधि पर विचार करना है। इस विधि के बिना केवल ध्यान शिविर लगाने से कुछ नहीं होगा।

'पातञ्जल योगदर्शन' में ध्यान

योगदर्शनकार महर्षि पतञ्जलि एक बहुत बड़े महापुरुष हुए हैं। उन महापुरुष ने योग की परिभाषा दी- **'अथ योगानुशासनम्।'**- योग एक अनुशासन है। अनुशासन किसका करें? अगले ही सूत्र में वे बताते हैं, **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।'**- चित्तवृत्तियों के निरोध का नाम योग है। चित्तवृत्तियाँ अनन्त हैं, उनमें वेग है। मन वायु से भी तेज चलनेवाला है। इन वृत्तियों का निरोध योग है। हमें अपनी वृत्तियों को अनुशासन में रखना है। मान लें, हमने-आपने परिश्रमपूर्वक चित्तवृत्तियों का निरोध कर ही लिया, उससे लाभ? महर्षि कहते हैं, **'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।'**- उस समय द्रष्टा यह आत्मा अपने ही सहज रूप परमात्मा में स्थित हो जाता है। तो क्या स्वरूप में स्थित होने से पूर्व आत्मा मलिन था? महर्षि ने बताया, **'वृत्तिसारूप्यमितरत्र।'**- दूसरे समय में जैसा वृत्तियों का प्रवाह है वैसा ही वह आत्मा है। जैसी वृत्ति वैसा ही आपके लिए यह आत्मा है।

वृत्तियाँ क्या हैं? सूत्रकार उनका स्वरूप बताते हैं, **'वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः।' (१/५)**- चित्तवृत्तियाँ पाँच प्रकार की होती हैं और हर वृत्ति के दो भेद हैं। वे कभी क्लेशों को देनेवाली होती हैं तो कभी यहीं वृत्तियाँ क्लेशों से मुक्ति प्रदान करनेवाली भी होती हैं। वृत्तियाँ तो अनन्त हैं किन्तु वे प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति रूप से पाँच प्रकार की होती हैं।

प्रश्न उठता है, इन वृत्तियों का निरोध कैसे हो? यह अनुशासित कैसे हों? **'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।'**- अभ्यास और वैराग्य के द्वारा चित्तवृत्तियों का भली प्रकार निरोध हो जाता है। वैराग्य क्या है? अगले सूत्र में कहते हैं कि देखी और सुनी वस्तुओं में राग का त्याग, लगाव का त्याग वैराग्य है और परम का दर्शन करके साधना का भी अन्त परम वैराग्य है। अभ्यास क्या है? प्रयत्न कैसे करें? चित्त को किसमें लगाएँ? **'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।'** अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश के रूप में पाँच क्लेश जीव के दुःख के कारण हैं। भले-बुरे कर्मों के विपाक अर्थात् परिणाम और उनके समुदाय या संग्रह के सम्बन्ध से जो रहित है वह पुरुष-विशेष ईश्वर है। पहले कभी इनका सम्बन्ध पुरुष से था, अब नहीं है। यदि कभी सम्बन्ध ही नहीं था तो ईश्वर के साथ इन परिस्थितियों से अपरामृष्टता की संकल्पना ही क्यों की जाती? वह पुरुष-विशेष ईश्वर है। काल उस ईश्वर को घटा-बढ़ा नहीं सकता। वहाँ काल की भी पहुँच नहीं। वह गुरुओं का भी गुरु है अर्थात् सद्गुरु है क्योंकि वह परम सत्य से समाविष्ट है। **'तस्य वाचकः प्रणवः।'**- उसका वाचक नाम ओंकार है। उसके नाम ओम् का जप करो और उसके अर्थस्वरूप उसी का ध्यान धरो। इसके प्रभाव से अन्तराय अर्थात् विघ्नों का पार पा लोगे। यहाँ सूत्रकार ने स्पष्ट कर दिया कि ध्यान जिस किसी का नहीं करना है, ध्यान एकमात्र परमात्मा का ही करना है और उसी का नाम जपना है।

योगदर्शन के दूसरे अध्याय 'साधनपाद' में महर्षि ने बताया कि योग का आरम्भ कहाँ से होता है? **'तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।'**- तप, स्वाध्याय और ईश्वर-शरणागति क्रिया-योग हैं। इस योग के आठ अंग हैं-

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि।।

इनमें से यम पाँच हैं- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर की शरणागति पाँच नियम हैं। शौच अर्थात् अन्तःकरण की शुद्धि, सन्तोष अर्थात् जो सम है, जिसमें विषमता नहीं है उस

अविनाशी परमात्मा से शनैः-शनैः तृप्ति मिलना, तप का आशय है मनसहित इन्द्रियों को इष्ट के अनुरूप तपाना, स्वाध्याय अर्थात् स्वयं का अध्ययन कि भजन में मन कितना लग रहा है तथा उन परम प्रभु के प्रति समर्पण। इनमें से तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान ये तीन क्रियायोग हैं। जहाँ ये तीन क्रियायें आरम्भ हुईं, भजन आरम्भ हो गया (योग की शुरुआत हो गई), क्रमशः अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह सधेंगे। तदनन्तर शौच और सन्तोष आयेंगे।

यम, नियम के पश्चात् योग का तीसरा अंग है आसन!। **'स्थिरसुखमासनम्।'**- स्थिर और सुखपूर्वक बैठने का नाम आसन है। एक सेठ प्रातः से सायंपर्यन्त गद्दी पर बैठा रहता है, क्या इसी का नाम आसन है? नहीं! इस आसन की सिद्धि कब होती है? महर्षि बताते हैं, **'प्रयत्नशैथिल्यानन्त समापत्तिभ्याम्।'**- यम और नियमों का जो प्रयत्न चल रहा था, उसमें शिथिलता आ जाय तथा अनन्त परमात्मा में भली प्रकार मन लगाने से यह आसन सिद्ध होता है। बाहर बैठने का नाम ही आसन होता तो अनन्त में मन लगाने की क्या आवश्यकता थी। योग-साधना के प्रयत्न के शैथिल्य का क्या औचित्य था? वास्तव में आसन का अर्थ है शरीर का सुख से बैठना नहीं अपितु मन जो भाग रहा है उसका स्थिर होना है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्यादि के लिए जो प्रयत्न चल रहा था, प्रयत्न न करना पड़े और मन लग जाय, प्रयत्न शिथिल हो जाय, प्रयास न करना पड़े और अनन्त उस परमात्मा में मन लग जाने से आसन सध जाता है।

आसन के सधते ही- **'तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।'**- आसन की सिद्धि के साथ ही श्वास-प्रश्वास की गति का भी रुक जाना प्राणायाम है। न बाह्य वायुमण्डल के संकल्प मन के भीतर प्रवेश कर पाते हों, न भीतर से किसी संकल्प का स्फुरण हो, कोई उद्वेग न पैदा हो इसका नाम प्राणायाम है। अब प्राणों के क्रिया-कलाप पर विराम लग गया। (एक आयाम में प्राण प्रवाहित हो गया।) इस प्रकार प्राणायाम भी कोई साधना नहीं है। अभ्यास किया गया तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान का, साधन किया जाता है अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह का। इसमें सहजता ढलते ही आसन-सिद्धि और आसन सधते ही प्राणायाम- प्राण के व्यापार पर विराम लग गया। यह स्थिति परिणामजन्य है। यह यम-नियमों के परिपालन का प्रतिफलन है। इस स्थिति तक पहुँचने के लिए चार स्तरों से गुजरना पड़ता है- **'बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।'** बाह्य वृत्ति, आभ्यन्तर वृत्ति तथा स्तम्भ वृत्ति है जिसको देशकाल और संख्या द्वारा जाँचते

हुए चलने से प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म होते-होते स्थायित्व ले लेता है। बाह्य वृत्ति अर्थात् राग-द्वेष, अनन्त इच्छा, वासना से आप्लावित षड्विकारों वाली वृत्ति संसार में भटकानेवाली वृत्ति है। दूसरी ओर विवेक, वैराग्य, तप, स्वाध्याय, ईश्वर के चिन्तन से भरी हुई वृत्ति आभ्यन्तर वृत्ति है। अब बाह्य वृत्ति में चित्त किस देश में (लोभ के देश में, मोह के देश में या काम के देश में), कहाँ विचरण कर रहा है, कितने काल तक ऐसा चिन्तन करता रहा, संख्या द्वारा उसकी जाँच करना चाहिए। (घड़ी का आविष्कार समय-ज्ञान के लिए नहीं हुआ था)।

बाह्य वृत्ति में विचरण करनेवाला यह मन कभी-कभी अपने संयम-नियम का विश्लेषण करने लग जाता है। कभी वैराग्य के देश में, कभी ब्रह्मचर्य के क्षेत्र में तो कभी स्वाध्याय में अर्थात् आभ्यन्तर वृत्ति में चला जाता है किन्तु यह भी है तो चित्त में तरंग ही। संख्या के द्वारा उस पर दृष्टि रखें कि वहाँ कितने समय तक रुका और पुनः वहाँ से हटाकर उसे स्तम्भ वृत्ति में लगायें, उसकी गति को कम करें। इसे दीर्घ से सूक्ष्म की ओर ले आयें, स्तम्भवृत्ति में लगा दें।

पूज्य गुरुदेव महाराज जी कहा करते थे, ''हो! विचारों से मन के पीछे पहरा लगाये रहो तभी भजन होगा। सचेतावस्था में रहोगे तभी भजन होगा।'' क्रमशः भली प्रकार देखा जाता हुआ यह प्राण दीर्घ, सूक्ष्म और स्थिर हो जाता है। उस समय प्राणायाम की सहज स्थिति आ जाती है। **'बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी चतुर्थः।'**- उस समय बाहर और भीतर के विषयों का त्याग हो जाने से, अपने आप होनेवाला प्राणायाम का यह चतुर्थ स्तर है। यह नहीं कि श्वास को भीतर ले जाओ, घड़े की तरह पेट फुलाओ फिर लुहार की भाथी की तरह बाहर फेंक दो, बाहर ही रोक दो- यह तो प्राणायाम का विकृत रूप है, भ्रामक है जो वास्तविकता का अपलाप कर प्रचलन में आ गया है। श्वास ने आपका क्या बिगाड़ा है, यह तो शरीर की जीवनीशक्ति है। श्वास बन्द हो जाय तो हम आप कोई नहीं बचेगा। अविद्या, अस्मिता इत्यादि पंच क्लेशों का उतार-चढ़ाव शरीर पर नहीं, वृत्ति पर है। उन वृत्तियों का निरोध करना है, संकल्पों का निरोध करना है न कि श्वास का। श्वास में उठनेवाले संकल्प-विकल्प के रुकते ही **'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।'**- प्राणायाम के सम्पन्न होते ही प्रकाश का आवरण क्षीण हो जाता है। आत्मा और आपके बीच में जो परदा पड़ा है संस्कारों का आवरण क्षीण होने लगता है। **'धारणासु च योग्यता मनसः।'**- मन में धारणा की योग्यता आ जाती है।

'विभूतिपाद' के प्रथम सूत्र में ही महर्षि धारणा का स्वरूप बताते हैं, **'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।'**– किसी देश में चित्त को बाँधना धारणा है। महर्षि धारणा के लिए दो देश पहले ही बता चुके हैं- ओम् का जप और उसके अर्थस्वरूप ईश्वर का ध्यान। आरम्भ में प्रयास करने पर भी स्वरूप पकड़ में नहीं आता। ओम् जपते-जपते थोड़ी-थोड़ी ही देर में मन पता नहीं क्या जपने लगता है; किन्तु प्राणायाम के सधते ही मन में धारणा की क्षमता आ जाती है, स्वरूप पकड़ में आ जाता है। **'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।'**– जहाँ चित्त को लगाया गया है, उसी देश में वृत्ति का एकतार चलना ध्यान है। ध्यान इतनी साधनाओं का परिणाम है, ध्यान आरम्भ नहीं है। ध्यान शिविर इसके लिए उपयोगी है कि इन्द्रियों का संयम कैसे सधे? ध्यान किसका करें? साधन-पद्धति का शिविर तो लगाया जा सकता है, ध्यान का नहीं। ध्यान तो साधन का परिणाम है।

यह ध्यान जब परिपक्व हो जाता है, **'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।'**– जिस लक्ष्य को पकड़ा जाय वह लक्ष्य मात्र शेष रह जाय, चित्त का निज स्वरूप शून्य हो जाय, पकड़नेवाला ही खो जाय- इसका नाम समाधि है। **'सम आदि स समाधिः'**। जो आदि-अनादि तत्त्व है परमात्मा, उसके साथ समत्व दिलानेवाली अवस्था समाधि है। यहाँ चित्त भी मिट जाता है। **'मन मरा माया मरी, हंसा बेपरवाह। जाको कछू ना चाहिए सोई शाहंशाह।'** जिस मन पर माया अंकित होती थी वह धरातल ही खो गया, तो माया रहे कहाँ! साथ ही द्रष्टा की स्वरूप में स्थिति! यही तो योग का लक्ष्य था।

महर्षि पतंजलि के अनुसार ध्यान सद्गुरु का और जप प्रणव (ओम्) का। सद्गुरु वह है जो क्लेश-कर्म-विपाक और उसके आशय से उपराम है। जिसका काल से अवच्छेद नहीं है, अकाल पुरुष की रहनी जिसे प्राप्त है, वह गुरुओं का गुरु है। मानस में है, **'बालक रूप राम कर ध्याना।'**– भगवान् के बालरूप के ध्यान का विधान है। पूज्य महाराज जी कहते थे कि पाँच वर्ष के बालक और स्थिति-प्राप्त महापुरुष की रहनी एक-जैसी होती है। महापुरुष का शरीर बड़ा दिखायी देता है; किन्तु होते हैं वे बालवत् स्वभाववाले। गीता, ११/४३ में भगवान् श्रीकृष्ण के लिए **'गुरुर्गरीयान्'** सम्बोधन आया है, जिसका आशय है गुरुओं में श्रेष्ठ। यही महर्षि पतंजलि के **'पूर्वेषामपि गुरु'** और मानस के **'तुम त्रिभुवन गुरुवेद बखाना।'** का भी आशय है। यह एक सद्गुरु की स्थिति है।

यदि ऐसे सद्गुरु नहीं मिलते तो दौड़कर किसी को बनायें भी न। सन्तों की

सेवा करें, उनके सान्निध्य में रहें, नाम का जप करें, प्रार्थना करें। आत्मा और आपके बीच जन्मान्तरों के संस्कारों के संग्रह का नाम मल है। आत्मा और आपके बीच यही आवरण या विक्षेप पैदा करता है। यह मलावरण-विक्षेप जहाँ धुला, आपकी आत्मा से ही प्रभु रथी होकर बताने लगेंगे- यह करो, यह मत करो। यह भी बता देंगे कि देखो यह सद्गुरु हैं। पूज्य गुरुदेव को भगवान् ने ही बताया कि इस मन्दिर में तुम्हारे गुरुदेव महाराज हैं। महाराज जी बताया करते थे- हो! उन महापुरुष को हमने पहले भी पचासों बार देखा था। लोग उन्हें देखकर कहते थे- वह देखो पगला जा रहा है। हम भी उन्हें पागल ही समझते थे। भगवान् ने ही आकाशवाणी दी कि ये तुम्हारे गुरु महाराज हैं। वे तब समझ में आये जब भगवान् ने बता दिया। अस्तु, भजन करना है तो छिपकर करें, पागल होकर करें। दिखावा करने से भजन होता ही नहीं। आज तक सृष्टि में जिन महापुरुषों का कीर्तिमान है वे सब पागल-जैसे ही थे। रामकृष्ण परमहंसदेव, जड़भरत, भगवान महावीर, काकभुसुण्डि- साधनावस्था में सभी पागल ही समझे जाते थे। पूज्य महाराज जी कहा करते थे- हो! हम जहाँ भी जाते लोग समझते कि यह पागल है, बच्चे कंकड़ भी फेंकते; किन्तु जब वाणी मिले तो लोग गुड़-चींटे की तरह लिपट जाते- अरे महाराज, हम तो कुछ और ही समझते थे, आप तो सन्त निकले। वस्तुतः महापुरुष भजन छिपकर करते हैं। कोई अपने उद्योग में लग गया तो उसे लोक-व्यवहार के लिए अवकाश कहाँ? दैनिक समाचार-पत्र पढ़नेवाले कभी-कभी इतने तल्लीन हो जाते हैं कि बगल से कौन निकल गया उन्हें पता ही नहीं चलता; फिर तो जो भजन में डूब गया उसे क्या पता चलेगा कि बाहर संसार में क्या हो रहा है। भजन एकान्त की वस्तु है। भजन करते समय बगलवाले को भी पता नहीं चलना चाहिए कि ये कब भजन करते हैं। अस्तु, सद्गुरु हैं तो टेढ़ी खीर किन्तु उन्हें प्राप्त करने का सरल-सा उपाय है- साधन समझें और लग जायँ। नाम जपते रहें, प्रार्थनारत रहें, श्रद्धा के साथ सत्पुरुषों की सेवा करें फिर भगवान् ही बतायेंगे। **सन्त विशुद्ध मिलहिं परि तेहीं। रामकृपा करि चितवहिं जेहीं।।**- प्रभु कृपा करके, करुणा करके जिसे एक निगाह देख लें, विशुद्ध सन्त छप्पर फाड़कर मिल जाते हैं। सद्गुरु जब मिल ही गये तो शेष क्या बचा? **'सद्गुरु मिले जाहिं जिमि, संशय भ्रम समुदाइ।'** इसके पश्चात् क्रम आता है ध्यान का। ध्यान आरम्भिक स्तर कदापि नहीं है। सद्गुरु साधन प्रदान करेंगे तो शनैः-शनैः ध्यान की अवस्था आ जायेगी क्योंकि भजन-साधन लिखने में नहीं आता, यह अनुभवी सद्गुरु के द्वारा साधक के अन्तःकरण में स्फुरित हो जाया करता है।

गीता में 'ध्यान'

अध्याय ६ में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया कि योगी एकान्त-देश का सेवन करते हुए, आशा और संग्रह का त्यागकर चित्त और इन्द्रियों को संयत करने के पश्चात् पवित्र स्थान पर स्थिर आसन से शरीर, शिर और ग्रीवा को एक सीध में रखते हुए मुझमें चित्त लगाये। यहाँ भी ध्यान साधना का आरम्भ नहीं है। इससे पूर्व साधक को एकान्त-देश का सेवन, मन और इन्द्रियों के संयम का पालन आवश्यक है। ध्यान के आलम्बन के रूप में योगेश्वर ने अपना स्वरूप बताया। जिस किसी भी व्यक्ति या वस्तु के ध्यान का कोई औचित्य गीता के अनुसार नहीं है।

गीता, अध्याय १८/५१-५५ में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया कि ज्ञान की परानिष्ठा अथवा परमनैष्कर्म्य सिद्धि की प्राप्ति के लिए साधक शब्दादिक विषयों का त्याग, एकान्त देश का सेवन, स्वल्पाहार, शरीर और इन्द्रियों के संयम का पालन, ध्यानयोग परायण होकर मेरी पराभक्ति को प्राप्त होता है। यहाँ भी योगेश्वर श्रीकृष्ण ने ध्यान से पूर्व अनेक पीठिकाओं का निर्देश किया है और ध्यान द्वारा अपनी भक्ति का उल्लेख कर किसी योगेश्वर के ध्यान को ही पुष्ट किया है।

जिस किसी का भी ध्यान करने के लिए गीता नहीं कहती। अध्याय ८/६ में है-

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।।

जो जिसका स्मरण करते हुए शरीर-त्याग करता है वह प्रायः उसी योनि को प्राप्त होता है। जो मेरा चिन्तन करता हुआ शरीर-त्याग करता है वह मेरे सहज अविनाशी स्वरूप को प्राप्त होता है, जहाँ से पुनः लौटकर आवागमन में नहीं आता। इसलिए अर्जुन! तू निरन्तर मेरा चिन्तन कर। अस्तु, योगेश्वर श्रीकृष्ण ने आवागमन से मुक्ति, अविनाशी पद, अमृततत्त्व में स्थिति के लिए अपना ही ध्यान बताया अन्यथा अन्य किसी का भी ध्यान करें, उस-उस योनि की प्राप्ति अपरिहार्य है, निर्विवाद है। अतः भगवान् के स्थान पर कुछ भी ध्यान करें, फूल देखें या दीपक, इससे काम नहीं चलेगा। इसी प्रसंग पर योगेश्वर पुनः बल देते हुए कहते हैं- अर्जुन! तू मेरा निरन्तर चिन्तन कर और युद्ध कर। अगले ही श्लोक में चिन्तन-विधि उन्होंने स्पष्ट किया कि अर्जुन! वैराग्य में स्थिर रहते हुए, एकान्त देश का सेवन करते हुए, अन्तःकरण में योगविधि को धारण करके **'चेतसा नान्यगामिना'**- सिवाय मेरे अन्य किसी विषय-वस्तु का स्मरण न करते हुए मेरा निरन्तर चिन्तन कर और युद्ध कर।

भगवान् के अतिरिक्त अन्य कोई दृश्य दिखायी देता है तो चिन्तन अपूर्ण है। यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण ने ध्यान अपना बताया।

नवम अध्याय में अपना परिचय देते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा-

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।। (९/११)

मेरे परमभाव को न जानने के कारण मनुष्य शरीर के आधारवाले मुझ अविनाशी, सम्पूर्ण भूतों के महान् ईश्वर को मूढ़ लोग तुच्छ मनुष्य कहकर पुकारते हैं। महात्मा और क्या होते हैं? वे भी परम का स्पर्श कर परमभाव में स्थित होते हैं। उन स्थितिवालों का शरीर तो एक मकान मात्र है- **साधन द्वार मोच्छ कर द्वारा।** किन्तु वे महापुरुष मानव-तन के आधारवाले ही होते हैं।

गीता के अध्याय आठ में वह महापुरुष कहते हैं-

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये।।८/११।।

अर्जुन! प्रत्यक्षदर्शी महापुरुष जिसे प्राप्त होते हैं, जिसे चाहनेवाले कठोर ब्रह्मचर्यादि यम-नियमों का पालन करते हैं, जो एकमात्र सदा हृदय में धारण करने योग्य है, उस पद को मैं संक्षेप में कहूँगा। वह है क्या?-

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्।। ८/१२।।

सम्पूर्ण इन्द्रियों के दरवाजों को संयमित करके, इन्द्रियों का दमन कर, योगविधि को हृदय में धारण कर, मन को भीतर ही मस्तिष्क में स्थित करके **'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म'**- 'ओम्' जो अक्षय ब्रह्म का परिचायक है उसका जप करते हुए, **'मामनुस्मरन्'**- मेरा स्मरण करते हुए (अर्थात् मेरे स्वरूप का ध्यान करते हुए) **'त्यजन्देहं'**- जो देहाध्यास का त्याग कर जाता है (अभ्यास इतना उन्नत हो जाय कि देह का भान समाप्त हो जाय, विदेहावस्था की स्थिति आ जाय), **'ततो याति परमां गतिम्'**- तत्क्षण वह परमगति को प्राप्त हो जाता है। यहाँ भगवान् ने ध्यान अपना, नाम ओम् और करने का तरीका योगविधि धारण करना, इन्द्रियों को विषयों में भटकने से रोकना बताया।

भगवान् इस पर पुनः बल देते हैं-

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।।८/१४।।

'अनन्यचेताः'- अर्थात् जो निरन्तर मेरा स्मरण करता है, **'तस्याहं सुलभः'**- उसे मैं सुलभ हूँ। आपके सुलभ होने से लाभ क्या है?-

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः।।८/१५।।

वह दुःखों की खानि क्षणभंगुर पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता। प्रश्न उठता है कि पुनर्जन्म की परिधि में आता कौन है?-

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।। ८/१६।।

स्वयं सृष्टि के रचयिता विधाता और उनसे उत्पन्न जगत् यावन्मात्र जड़-चेतन, स्थावर-जंगम, दिति-अदिति की सन्तानें दानव, देव और मानव पुनरावर्ती स्वभाव वाले हैं। आज हैं, तो कल दूसरा जन्म लेंगे। **'पुनरपि जननम् पुनरपि मरणम्।'** इस परिधि में रहनेवाले हैं, दुःखों की खानि है, क्षणभंगुर हैं; किन्तु अर्जुन! मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता। यहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार अन्यत्र कहीं कोई ध्यान करता है तो वह दुःखों की खानि को आमंत्रित करता है। नष्ट होना है तो नश्वर को पकड़ो, अविनाशी पद पाना है तो योगेश्वर को पकड़ो।

गीता के समापन अध्याय में भगवान् ने स्वयं बताया, अर्जुन! जानते हो भगवान् कहाँ रहते हैं?

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।। १८/६१।।

अर्जुन! वह परमात्मा सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय-देश में वास करता है। इतना समीप है तो लोग देखते क्यों नहीं? मायारूपी यंत्र पर आरूढ़ होकर लोग भटकते ही रहते हैं इसलिए नहीं जानते, तो करें क्या? योगेश्वर ने बताया-

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।। १८/६२।।

अर्जुन! उस हृदयस्थित ईश्वर की शरण जाओ। सम्पूर्ण भावों से जाओ। यह नहीं कि थोड़ा भाव पशुपतिनाथ, थोड़ा कमच्छा देवी, कुछ अन्यत्र भैरोनाथ, तब तो आपका भाव बिखर गया। इससे कल्याण नहीं होगा। **'सर्वभावेन'**- मन की सम्पूर्ण भावना से लगें।

मान लें सभी मान्यताओं, पूर्वाग्रहों को तोड़कर कोई एक परमात्मा की शरण में चला ही गया, तो उससे लाभ क्या है? **'तत्प्रसादात् परां शान्तिम्'-** उसकी कृपा-प्रसाद से तुम उस स्थान को प्राप्त कर लोगे जो शाश्वत है। यही अमृत-तत्त्व अविनाशी पद की प्राप्ति है। किन्तु हृदयस्थित ईश्वर को तो हमने देखा नहीं, उसकी शरण जायँ तो कैसे? इस पर भगवान् कहते हैं- अर्जुन! इससे भी गोपनीय, अति गोपनीय वचन सुन-

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।। १८/६५।।

अर्जुन! मुझमें मन को लगा, मेरा अनन्य भक्त हो, मुझे नमन कर, सम्पूर्ण भावों से मेरी शरण में आ, मैं सत्य कहता हूँ तू मुझे प्राप्त होगा।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।। १८/६६।।

सारे धर्मों की चिन्ता छोड़, यह रास्ता ठीक है या वह मार्ग- इस ऊहापोह को छोड़कर तुम मेरी शरण में आ जाओ, तुम समस्त पापों से मुक्त हो जाओगे।

आरम्भ के दो श्लोकों में भगवान् ने कहा- ईश्वर हृदय में है, उस हृदयस्थित ईश्वर की शरण जाओ। अगले दो श्लोकों में कहते हैं कि सम्पूर्ण भाव से मेरी शरण में आओ। बाहर श्रीकृष्ण खड़े हैं उनकी शरण जायँ या हृदय में भगवान् हैं उनकी शरण जायँ। वास्तव में भगवान् हृदय में हैं किन्तु हृदयस्थ उस परमात्मा को प्राप्त करने का रास्ता है सद्गुरु। श्रीकृष्ण एक योगेश्वर हैं। गीता में स्थान-स्थान पर योगेश्वर ने अपना परिचय दिया कि वह सत्य से संयुक्त महापुरुष सद्गुरु के रूप में हैं।

अतः हृदयस्थित ईश्वर को पाना है तो मन-क्रम-वचन से किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष की शरण में जाना होगा, जिसे पतंजलि ने क्लेश-कर्म-विपाक आशय से मुक्त ईश्वर की संज्ञा दी है। संजय प्रत्यक्षदर्शी थे। जो कुछ अर्जुन ने देखा, वही संजय ने भी देखा। अर्जुन को श्रीकृष्ण से दृष्टि प्राप्त हुई थी, वही दृष्टि संजय को व्यास की अनुकम्पा से मिली थी। जो कृष्ण ने दिया, वही व्यास ने दिया।

उस प्रत्यक्षदर्शी संजय ने अन्त में निर्णय दिया-

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम्।। १८/७८।।

जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं, योग के अनुरूप धनुष को धारण करनेवाला महात्मा अर्जुन हैं (लक्ष्यवेधी अनुरागी है), वहीं श्रीः है, विजय है, विभूति है, अचल

नीति है। राजन्! विजय पाण्डवों की होगी; क्योंकि विजय वहीं है जहाँ योगेश्वर हैं अन्यथा प्रकृति पर कोई विजय प्राप्त ही नहीं कर सकता। भगवान् श्रीकृष्ण परम का स्पर्श करके परमभाव में स्थित साक्षात् परमात्मा स्वरूप हैं, योगेश्वर हैं।

अर्जुन ने पूछा, भगवन्! उस ज्ञान को मैं कहाँ प्राप्त करूँ, कैसे प्राप्त करूँ, जिसे जान लेने के पश्चात् कुछ भी जानना शेष नहीं रहता, जिसे प्राप्त करने के पश्चात् कुछ भी पाना शेष नहीं रहता? भगवान् ने बताया-

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।। (गीता, ४/३४)

अर्जुन! तत्त्वदर्शी महापुरुष के पास जाओ, उनके प्रति समर्पित हो सेवा और प्रश्न कर तुम उस ज्ञान को प्राप्त करो, जिसे जान लेने के पश्चात् फिर तुम्हें कभी सन्देह नहीं होगा, सदा-सदा के लिए अज्ञान का निवारण हो जायेगा।

भगवान् तो सामने ही खड़े थे, तत्त्वदर्शी के पास अर्जुन को भेजने की क्या आवश्यकता थी? वास्तव में भगवान् श्रीकृष्ण भी तत्त्वदर्शी थे। परमतत्त्व है परमात्मा। जिसने उसको देखा, देखा ही नहीं स्थिति प्राप्त की- ऐसे परमभाव में स्थितिवाले महायोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण थे। गीता गुरु-शिष्य संवाद है। अर्जुन ने कहा, **'शिष्यस्तेऽहम्'-** आप मुझे सँभालिए क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ। अस्तु, भगवान् श्रीकृष्ण सद्‌गुरु की स्थितिवाले महापुरुष की शरण भेजते हैं। केवल सद्‌गुरु के ध्यान का विधान आर्षग्रन्थों में है।

।। ॐ श्री सद्‌गुरुदेव भगवान् की जय।।

हठ, चक्र–भेदन और योग

(काठमाण्डौं, नेपाल की जनसभा में दिनांक २२-११-२००० ई० को योग–सम्बन्धी जिज्ञासा पर महाराजश्री का प्रवचन।)

बन्धुओ!

आप सब की ओर से दो प्रश्न आये हैं। पहला प्रश्न है कि मूर्तिपूजा उचित है या अनुचित? दूसरा प्रश्न है, योग के नाम पर तरह–तरह के योग, जैसे- हठयोग, राजयोग, लययोग, कुण्डलिनी योग, षट्चक्र और आसनों के बीच योग का वास्तविक स्वरूप क्या है?

जहाँ तक मूर्तिपूजा का प्रश्न है आश्रमीय साहित्य 'यथार्थ गीता', 'जीवनादर्श एवं आत्मानुभूति' और 'शंका समाधान' इत्यादि में भी हमने इस प्रश्न को लिया है। ये मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारा, चर्च, स्तूप इत्यादि जो भी पिण्ड तैयार किये जाते हैं आध्यात्मिकता की प्राथमिक पाठशालाएँ हैं। इनके द्वारा हम पूर्वजों के पदचिन्हों पर चल सकते हैं, धर्म की दिशा प्राप्त कर सकते हैं। एक सीमा तक ही इनका उपयोग है। वर्णमाला ज्ञान के लिए प्राथमिक कक्षाएँ आवश्यक हैं; किन्तु कोई आजीवन इन कक्षाओं में रहना चाहे तो वह पढ़ता ही क्या है? ऐसे ही कोई आजीवन मन्दिर तक ही जाना चाहे तो यह उसकी भावुकता ही कही जायेगी। मन्दिर और मूर्तियाँ श्रद्धास्पद स्मारक हैं, जिनमें हमारे पूर्वजों द्वारा परमात्मा की शोध की गौरवपूर्ण स्मृति सँजोयी गई है। यदि वहाँ यह बताया जाता है कि उन महान् विभूति ने किस प्रकार साधना की? कैसे उस परमतत्त्व को प्राप्त किया? उनका सन्देश क्या है?, तब तो मन्दिर और मूर्तियाँ सार्थक हैं। केवल चरणामृत बाँटनेवाला मन्दिर अधूरा है, श्रद्धा का दुरुपयोग है।

आपका दूसरा प्रश्न, जो योग के सम्बन्ध में है, विस्तृत विचार की अपेक्षा रखता है। आज योग के नाम पर देश–विदेश में हजारों प्रशिक्षण केन्द्र चल रहे हैं जिनमें गृहस्थ, विरक्त सब के सब योग ही सिखा रहे हैं। सबकी संस्थाएँ फल–फूल रही हैं। छोटे–छोटे बच्चे तक योग में पारंगत हैं। हमारे आश्रम में कुछ बच्चे आते थे वे सब योग सीखकर स्वर्णपदक पा गये (वे जिमिनास्टर थे); किन्तु गीता–जैसे योगशास्त्र में इसे योग नहीं कहा गया। गीता में है-

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।। (६/२३)

अर्थात् संसार के संयोग-वियोग से रहित जो आत्यन्तिक सुख है, जिसे परमतत्त्व परमात्मा कहते हैं उसके मिलन का नाम योग है। वह योग न उकताए हुए चित्त से निश्चयपूर्वक करना कर्त्तव्य है। धैर्यपूर्वक सतत् अभ्यास से लगनेवाला ही उसे प्राप्त करता है। परमतत्त्व परमात्मा और हमारे बीच में मन की तरंगें हैं, चित्त की वृत्तियाँ हैं। इन वृत्तियों का निरोध कैसे हो?- इतनी ही तो साधना है, जिसे पूर्व मनीषियों ने देश, काल और पात्र-भेद के अनुसार अपनी-अपनी भाषा-शैली में व्यक्त किया है। लौकिक सुख तथा पारलौकिक आनन्द की प्राप्ति के एकमात्र स्रोत परमात्मा की शोध का जो संकलन वेदों में है, वही उपनिषदों में उद्‌गीथ विद्या, संवर्ग विद्या, मधुविद्या, आत्मविद्या, दहर विद्या, भूमाविद्या, मन्थविद्या, न्यासविद्या इत्यादि नामों से अभिहित किया गया। इसी को महर्षि पतंजलि के 'योगदर्शन' में योग की संज्ञा दी गई।

योग है क्या? महर्षि कहते हैं, **अथ योगानुशासनम्।**- योग एक अनुशासन है। हम किसे अनुशासित करें- परिवार को, देश को, पास-पड़ोस को? सूत्रकार कहते हैं- नहीं, **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।**- चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है। किसी ने परिश्रम कर निरोध कर लिया तो उससे लाभ? **तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।**- उस समय द्रष्टा यह आत्मा अपने सहज स्वरूप परमात्मा में स्थित हो जाता है। क्या पहले वह स्थित नहीं था? महर्षि के अनुसार, **वृत्तिसारूप्यमितरत्र।**- दूसरे समय द्रष्टा का वैसा ही स्वरूप है, जैसी उसकी वृत्तियाँ सात्त्विक, राजसी अथवा तामस हैं, क्लिष्ट, अक्लिष्ट इत्यादि। इन वृत्तियों का निरोध कैसे हो? **अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।**- चित्त को लगाने के लिए जो प्रयत्न किया जाता है उसका नाम अभ्यास है। देखी-सुनी सम्पूर्ण वस्तुओं में राग का त्याग वैराग्य है। अभ्यास करें तो किसका करें? **क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।**- क्लेश, कर्म, कर्मों के संग्रह और परिणाम भोग से जो अतीत है वह पुरुष-विशेष ईश्वर है। वह काल से भी परे है, गुरुओं का भी गुरु है। उसका वाचक नाम 'ओम्' है। **तज्जपस्तदर्थभावनम्।**- उस ईश्वर के नाम प्रणव का जप करो, उसके अर्थस्वरूप उस ईश्वर के स्वरूप का ध्यान धरो, अभ्यास इतने में ही करना है। इस अभ्यास के प्रभाव से अन्तराय (विघ्न) शान्त हो जायेंगे, क्लेशों का अन्त हो जायेगा और द्रष्टा स्वरूप में स्थिति तक की दूरी तय कर लेगा।

इन समस्त प्रकरण में योग के लिए वृत्तियों का संघर्ष झेलना है। यह शरीर का क्रिया-कलाप, इसकी विभिन्न मुद्राएँ योग कब से और कैसे हो गयी? कोई

दिन-रात लगातार चौबीसों घण्टे योग के नाम पर प्रचलित इन आसनों को कर भी तो नहीं सकता जबकि गीता के अनुसार योग सतत् चलनेवाली प्रक्रिया है और महर्षि पतंजलि के अनुसार, **स तु दीर्घकाल नैरन्तर्य सत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः।**- योग का यह अभ्यास बहुत काल तक लगातार श्रद्धापूर्वक करते रहने से दृढ़ अवस्थावाला होता है। अभ्यास में करना क्या है? क्या कोई आसन? नहीं, उसमें करना है ओम् का जप और ईश्वर का ध्यान। योग का परिणाम क्या है? द्रष्टा की स्वरूप में स्थिति। इसके अतिरिक्त लक्षणोंवाला, भिन्न परिणामवाला साधन योग कदापि नहीं है।

अब हमें यह देखना है कि योग में इन मानसिक क्रियाओं के स्थान पर शारीरिक क्रियाओं का प्रचलन कैसे हो गया? योग के नाम पर विभिन्न आसन कहाँ से आ गये? महात्मा लोग घनघोर जंगल के शान्त एकान्त में कन्द-मूल, फल सेवन कर भजन करते थे, जहाँ अनेक प्रकार की बीमारियों का प्रकोप रहता था- **'लागत अति पहार कर पानी। बिपिन बिपति नहिं जाई बखानी।।'** पहाड़ी जल प्रायः स्वास्थ्य के अनुकूल नहीं होता। जंगल के जीवन में इतनी असुविधाएँ हैं कि उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। सर्प, बिच्छू, शेर, भालू, गैंडा, हाथी और तरह-तरह के कीटाणुओं के मध्य निवास की समस्याओं के अतिरिक्त बड़े-बड़े मच्छरों के दंश, जिनसे साधकों को चार-छः महीने में ही मलेरिया, जूड़ी-ताप, लीवर का बढ़ना, तिल्ली, उदर-शूल इत्यादि जंगल के रोग आक्रान्त कर लेते थे। महीने दो-तीन महीने से बुखार पीछा ही नहीं छोड़ रहा है, अब तक जो चिन्तन-स्मरण-अभ्यास किया, प्रेमपूरित हृदय से जो लव इष्ट-चरणों में लगी थी, उधर से हटकर शरीर के चिन्तन में लग गई कि यह स्वस्थ कैसे हो? चिन्तन-क्रम टूट गया। येन-केन प्रकारेण स्वास्थ्य-लाभ हुआ भी तो चार-छः महीने के अन्तराल से पुनः कोई न कोई बीमारी आ गई। जीवन ही कितना है मनुष्य के पास।

प्राचीनकाल में आज की तरह चिकित्सा की सुविधायें न थीं और जंगल में तो उनका और भी अभाव था इसलिए महात्माओं ने भजन-पथ के भयंकर विघ्न इन बीमारियों के निवारणार्थ अपने भजन में से कुछ समय निकालकर शरीर-शोधन की प्रक्रिया में लगाना आरम्भ किया, जिससे न मल अवरुद्ध हो और न उससे उत्पन्न होनेवाले अवान्तर विघ्न शरीर को क्षुभित कर सकें। **'योग करत रोग बढ़त। वैराग योग कठिन ऊधो, हम न करब।'** गोपियाँ कहती हैं कि उद्धव जी! वैराग्य और योग तो बड़ा कठिन है। योग करने से रोग बढ़ता है। वास्तव में ऐसा ही है, क्योंकि भजन का उतार-चढ़ाव श्वास पर निर्भर है। एक ही नाम को बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और

परा इन चार श्रेणियों से जपा जाता है। बैखरी उसे कहते हैं जो व्यक्त हो जाय। नाम-जप सस्वर इस प्रकार करते हैं कि सुनायी दे। मध्यमा का आशय है अस्फुट स्वर। ऐसा उच्चारण कि समीप में कोई बैठा हो तो उसे न सुनायी न पड़े, केवल जपने वाला सुने, समझे। इससे उन्नत अवस्था पश्यन्ती में दृष्टि श्वास पर केन्द्रित की जाती है कि श्वास कब अन्दर आई, कितने समय तक रुकी, कब बाहर गयी? मन को द्रष्टा रूप में खड़ा कर देते हैं। जब मन निरीक्षण करने लगे तो चिन्तन से उस नाम को जपा जाता है। पश्यन्ती अवस्था की परिपक्व अवस्था विपश्यना में, श्वास विशेष रूप से निरीक्षण की क्षमता में नाम जागृत हो जाता है, उसे करना नहीं पड़ता। एक बार सुरत लगा भर दें, डोर लग जायेगी। श्वास देखने की क्षमता आते ही परा में प्रवेश मिल जाता है। यह तत्त्व में प्रवेश दिला देनेवाली वाणी है इसलिए परा कहलाती है। उस समय श्वास की गति शिथिल हो जाती है। एक मिनट में यदि आप चार बार श्वास लेते थे तो इस परा की अवस्था में एक ही बार ले सकेंगे। श्वास ही तो रक्त का शोधन करती है। यदि यही शिथिल हो गई तो रक्त-संचार मन्द पड़ जाता है। नस-नाड़ियों, मांसपेशियों में रक्त-संचार शिथिल होते ही शरीर को तरह-तरह की बीमारियाँ घेर लेती हैं। साधना का क्रम न टूटे, इसके लिए महापुरुषों ने नेति, धौति, आसन इत्यादि शारीरिक क्रियाओं का आविष्कार किया।

नेति अर्थात् नाक में सूत की रस्सी डालकर मुख से निकालना, धौति अर्थात् पाँच सेन्टीमीटर चौड़े और पाँच मीटर लम्बे मलमल के वस्त्र को जल से साथ निगलना और निकालना, वस्ति अर्थात् गुदा से अश्विनी मुद्रा द्वारा जल खींचकर एनिमा की तरह बड़ी आँत की सफाई करना, नौलि अर्थात् खड़े होकर झुकते हुए दोनों हाथ घुटने पर रख नौलि (छोटी आंत) को नाभि के चारों ओर घुमाना, त्राटक अर्थात् किसी वस्तु को एकटक देखते रहना, कपालभाति अर्थात् लुहार की भाथी की तरह शीघ्रतापूर्वक श्वास लेना और छोड़ना- इन सबके अनेक अवान्तर भेद, जैसे- कर्ण धौति (कान की सफाई), दन्तधौति (दाँतों की सफाई), शंख प्रक्षालन (मुख से जल पीकर गुदा मार्ग से निकालना) इत्यादि केवल शारीरिक उपचार थे, जिनसे भजन में व्यवधान न आये। मूल साधन से इनका कोई सम्बन्ध नहीं था। **'तन बिन भजन वेद नहिं वरना'**- भजन के लिए तन को निरोग रखने का नुस्खा इन क्रियाओं में था जिसे कालान्तर में हठयोग कहा जाने लगा।

वस्तुतः हठयोग नाम की अलग से कोई साधना नहीं है। हम जब गुरु महाराज की शरण में आये, महीने-दो महीने में ही गुरुदेव हृदय से प्रेरणा देने लगे

कि यहाँ बैठो, अब श्वास से चिन्तन करो, अब भजन ठीक चल रहा है, अब ठीक नहीं है, अब बाधा आनेवाली है, यह बाधा का निवारण हो गया- इस प्रकार धड़ाधड़ अनुभव में मिलने लगा। गुरु महाराज ने अनुभव की जागृति प्रदान की, आत्मा से इष्टदेव रथी हो गये। नाम जपने की विधि, श्वास-प्रश्वास का भजन, नाम-रूप-लीला और ब्रह्मविद्या इत्यादि सभी साधन गुरुदेव ने विधिवत् बताया किन्तु नेति, धौति, नौलि, वस्ति, योगासन इत्यादि का नाम भी नहीं लिया।

गुरु महाराज सेवा पर पूरा जोर देते थे। यह करो वह करो- सेवा में लगाये रखते थे जिससे आसनों की कमी पूरी हो जाय। वे कहते थे- जब तक जगो योगाचार में रहो। मन को नाम, रूप, लीला और धाम इनमें से कहीं न कहीं लगाये रखो। यदि आप मन को भजन से छुट्टी देंगे तो यह माया में जायेगा। मन एक ऐसा यन्त्र है जो कभी शान्त रहता ही नहीं, सदैव कुछ न कुछ करता ही रहता है, इसलिए सतत् चिन्तन में लगे रहो। सेवा करते समय भी, तिनका उठाते समय भी सुरत लगी रहनी चाहिए। प्रणपूर्वक लगे रहो। इसी का नाम हठ है। हठ के नाम पर अलग से कोई क्रिया नहीं है। पंचाग्नि तापना, चौरासी धूनी तापना, जल शयन, कण्टक शयन अरण्य निवास, एक पैर से अथवा एक हाथ ऊपर कर खड़े रहना, वृक्ष की डाल से उल्टा लटककर नीचे से धुआँ लेना, दिगम्बर नागा या मौनी बनना, निराहार, जलाहार, फलाहार, दूर्वाहार, दुग्धाहार या कंदमूलाहार पर निर्वाह करना हठ का ही प्रयास है; किन्तु वास्तविक हठ श्रद्धा का एक इष्ट में स्थिरीकरण है।

पार्वती जी से सप्तर्षियों ने प्रस्ताव किया कि आपका विवाह ऐश्वर्यसम्पन्न विष्णु से करा देते हैं, इन दिगम्बर शिव में क्या रखा है? उन्होंने उत्तर दिया, **'हठ न छूट छूटै बरु देहा'**- हठ नहीं छूटेगा, शरीर भले ही छूट जाय। **जन्म कोटि लागि रगर हमारी। बरउँ सम्भु न त रहउँ कुँआरी।।**- करोड़ों जन्म तक हमारी यही टेक है कि शंभु का वरण करूँगी अन्यथा कुमारी रहूँगी। **'तजउँ न नारद कर उपदेसू। आपु कहहिं सत बार महेसू।।'**- मैं नारद का उपदेश नहीं त्याग सकती। भगवान् शिव भी स्वयं आकर सौ बार कहें तब भी मैं नहीं छोड़ूँगी। **'गुरु के वचन प्रतीति न जेही। सपनेहु सुगम न सुख सिधि तेही।।'** गुरु के वचनों पर जिसे विश्वास नहीं है उसे स्वप्न में भी न सुख है, न सिद्धि ही है। यह था जगदम्बा पार्वती का हठ, उनका प्रण। भगवान् बुद्ध का भी हठ इसी प्रकार का था जिसका उल्लेख 'ललित बिस्तर' के इस श्लोक में है, **'इहासने शुष्यतु मे शरीरम्, त्वगस्थि मांसं प्रलयं च यातु। अप्राप्य बोधि बहुकल्प दुर्लभाम्, नैवासनात् कायमतश्च लिष्यते।'** अर्थात् भले

ही मेरा शरीर सूख जाय, हड्डियाँ मांस छोड़ दें, प्रलय ही क्यों न आ जाय, जब तक दुर्लभ बोधि (आत्मज्ञान) कैवल्य को प्राप्त न कर लूँगा, इस आसन से नहीं उठूँगा। हठ के नाम पर कोई और क्रिया होती हो ऐसी बात नहीं है। जिस प्रभु के प्रति आप लग गये हैं- करोड़ों उपदेशक आयें- आप अपने हठ से, प्रण से, टेक से हवा भर भी विचलित न हों, इसका नाम हठ है। योग-साधन में हठ आवश्यक है। पूज्य महाराज जी कहते थे, 'हो! हठ ही हनुमान है। साधक को हनुमान की तरह होना चाहिए, माता पार्वती की तरह हठी होना चाहिए। यही है हठ, न कि नेति और धौति की क्रियायें! 'ह' और 'ठ' अक्षरों में सूर्य और चन्द्र अथवा पिंगला और इड़ा नाड़ियों का समीकरण बैठाना परवर्ती अन्वेषियों की देन है।

तंत्र-ग्रन्थों में शरीर तथा मन के सम्मार्जन के लिए उक्त षट्कर्मों के अतिरिक्त अनेक बन्ध, मुद्रा और प्राणायाम की चर्चा है। मूलबन्ध में श्वास द्वारा गुदा का संकोचन करते हैं। पेट को पीठ से मिलाना उड्डीयान बन्ध है। ढोढ़ी को हृदय से सटाने का प्रयास जालन्धर बन्ध है। जिह्वा उलटकर तालु कुहर में लगाना खेचरी मुद्रा है जिसमें घर्षण, छेदन, चालन और दोहन द्वारा लम्बिका योग अर्थात् जीभ को लम्बा किया जाता है। जननेन्द्रिय को पुनः-पुनः सिकोड़ना अश्विनी मुद्रा है। नितम्ब को जमीन पर बार-बार गिराना शक्तिचालिनी मुद्रा, नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि शाम्भवी मुद्रा कही जाती है। जननेन्द्रिय द्वारा जल इत्यादि ऊपर खींचना बज्रोली मुद्रा है। दोनों अंगूठे से दोनों कान, तर्जनियों से दोनों नेत्र, मध्यमा से नासिका छिद्र, अनामिका और कनिष्ठकाओं से होंठ और अधर बन्द करना योनि मुद्रा या षण्मुखी मुद्रा है। पूरक, कुम्भक और रेचक में विभाजित प्राणायाम प्रणवसहित सगर्भ प्रणवरहित निर्गर्भ, सूर्यभेदी, उज्जाई, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्धा और केवली (प्लाविनी) के रूप में आठ प्रकार का होता है। वायु को घड़े की तरह पेट में भरना तड़ागी मुद्रा है। भिन्न-भिन्न रोगों में इन क्रियाओं का भी प्रयोग करते थे किन्तु यह उपचार क्लिष्ट था, इसमें खतरे बहुत थे। अच्छे से अच्छे जानकार भी थोड़ी-सी असावधानी से प्राणों से हाथ धो बैठते थे इसलिए आसनों का आविष्कार हुआ। चौरासी लाख जीवों का अनुकरण कर इतने ही आसन बताये गये जिनमें चौरासी मुख्य हैं- जैसे- सिद्धासन, पद्मासन, शीर्षासन, मयूरासन, सर्वांगासन इत्यादि। इनमें से कुछ आसनों को भी कर लेने से पसीना होने लगेगा, रक्त-संचार स्वाभाविक होने लगेगा, मांस-पेशियों पर दबाव पड़ने लगेगा, आप नीरोग रहेंगे। इस प्रकार आसन के रूप में प्रचलित यह व्यायाम योग का सहयोगी है न कि योग! कुछ लोग योग के नाम

पर केवल आसन, नेति, धौति जैसी शारीरिक क्रियायें करते हैं- यह योग नहीं है। योग तो संसार के संयोग-वियोग से रहित है। आत्यन्तिक सुख, काल से अतीत, कैवल्य पद के मिलन का नाम है योग। शारीरिक क्रियायें विकारों के निवारण की विधि मात्र हैं, सम्पूर्ण योग कदापि नहीं। सम्पूर्ण योग के लिए आप श्रीमद्भगवद्गीता की टीका 'यथार्थ गीता' की तीन-चार आवृत्ति भली प्रकार करें।

साधनावस्था में निराधार विचरण के क्रम में पूज्य गुरु महाराज जी एक बार प्रयाग पधारे। प्रयाग बाँध पर कुछ हठयोगी निवास करते थे। आपको भजन में बैठा देखकर एक नवयुवक साधक ने प्रश्न किया कि आप रात्रि दो बजे से ही ध्यान में लगे हैं। जब भीतर मल भरा है तो ध्यान कैसे होगा। ध्यान से पूर्व नेति, धौति इत्यादि क्रियायें आवश्यक हैं परन्तु आप इन क्रियाओं के बिना ही ध्यान में रत हैं? महाराज जी ने हँसते हुए उत्तर दिया कि मल तो मन में होता है, स्थूल शरीर की आँतों को साफ करने से क्या होगा? जन्म-जन्मान्तर के दूषित संस्कार ही हमारे लिए मल हैं। जिसके द्वारा मन का मैल साफ हो जाय, वही योग-क्रिया है। यह साधन अनुभवी महापुरुषों द्वारा जागृत हो जाया करता है, जो जन्म-जन्मान्तरों के मलों को मिटाकर इष्ट में नियुक्त कर देता है। इस मानसिक चिन्तन का शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं है। गीता योगशास्त्र है किन्तु उसका एक भी सूत्र नेति, धौति या वस्ति से सम्बन्धित नहीं है। रामचरित मानस भी उसी इष्ट से योग कराता है, किन्तु उसमें भी इन क्रियाओं का वर्णन नहीं मिलता। महर्षि पतंजलि और कबीर इत्यादि ने भी कहीं इसके लिए स्थान नहीं दिया। नेति, धौति इत्यादि शारीरिक उपचार हैं जिनसे कठिन से कठिन शारीरिक विकारों का शमन हो सकता है; किन्तु इससे आप योग की पराकाष्ठा प्रभु को नहीं पा सकते। योग में पायी जानेवाली प्रक्रिया एक ही है। गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं-

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।। (२/४१)

अर्जुन! इस कल्याण-मार्ग में निश्चयात्मक बुद्धि एक ही है। अविवेकियों की बुद्धि अनन्त शाखाओं में बँटी रहती है इसलिए वे अनन्त क्रियाओं का विस्तार कर लेते हैं। इस नियत विधि को गीता में यज्ञचक्र कहा गया। परवर्ती सूत्रकारों ने इसे विविध नाम दिये। साधना के विभिन्न पक्षों पर बल देने के कारण एक ही योग ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, राजयोग, हठयोग, मंत्रयोग, लययोग, सुरति-शब्दयोग, कुण्डलिनी योग, चक्रभेदन योग इत्यादि शाखाओं में बँटकर एक दूसरे से भिन्न प्रत्युत्

विरोधी भी प्रतीत होने लगा। ज्ञानयोगियों ने बुद्धि पर, कर्मयोगियों ने सेवा पर, भक्तियोगियों ने समर्पण पर, राजयोगियों ने ध्यान पर, हठयोगियों ने शारीरिक शुद्धि पर, तंत्रयोगियों ने मंत्र पर, लययोगियों ने संस्कारों के विलय और परमात्मभाव में स्थिति पर बल दिया। यही सन्त कबीर का सुरति-शब्द योग है और यही गुरु गोरखनाथ जी का कुण्डलिनी योग है। योग इन सबका समुच्चय है, अन्तर्भाव है।

महापुरुषों के पीछे विकृतियों का सृजन हो जाया करता है, और महापुरुष के नाम पर चला भी देते हैं। यही कारण है कि मध्यकाल में साधना के नाम पर रहस्यमयी परिभाषाएँ, निरर्थक मंत्र और गुह्य साधनाएँ विकसित हो गईं जिनमें पंच मकार- मत्स्य, मांस, मदिरा, मुद्रा, मैथुन के अश्लील एवं व्यभिचारपरक अर्थ किये गये, जिसकी पुनर्प्रतिष्ठा सन्त गोरखनाथ जी जैसे महान् योगियों ने की।

योग-साधना को लेकर मत-मतान्तरों के सृजन का दूसरा कारण यह था कि मध्यकाल में संस्कृत भाषा जन-साधारण के लिए वर्जित कर दी गई। इसके अध्ययन-अध्यापन पर वर्ग-विशेष का विशेषाधिकार हो गया। यही कारण था कि सामाजिक कुलीनता से अलग-थलग अनेक महात्मा (वैदिक) ज्ञानराशि से वंचित रह गये। उनके अनुयायी अन्य सम्प्रदायों से अपनी श्रेष्ठता प्रदर्शित करने के लिए क्षेत्रीय बोलचाल की भाषा में उन्हीं के समानान्तर हजारों आगमिक ग्रन्थों की रचना कर बैठे। वास्तविकता न समझ पाने के कारण उन्होंने शरीर में चक्रों की परिकल्पना को कितना हास्यास्पद बना दिया है। प्रायः लोग शरीर में सात चक्रों का रूपक सुनते आये हैं, सौभाग्य लक्ष्मी उपनिषदों में नौ चक्र बताये गये हैं; किन्तु सन्त कबीर के अनुयायी इसके भी आगे कई अन्य चक्र गिनाकर कबीर साहब को उसके शिखर पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। सन्त पूर्णसिंह जी ने दो सहस्रार अर्थात् चौदह चक्रों तक गुरु गोरखनाथ जी का स्थान माना और अपने नानकदेव जी को इससे भी ऊपर कई चक्रों को पारकर महामहिमावती विहंगमपुर का निवासी बताया। अस्तु, साम्प्रदायिक स्पर्धा को यहीं विराम देकर हम पुनः आपके प्रश्न पर आते हैं।

वास्तव में शरीर के ये चक्र रूपक मात्र हैं। महापुरुषों ने इनको दृष्टान्त का माध्यम बनाकर अध्यात्म जगत् के अमूर्त रहस्यों को समझाने का प्रयास किया है। इन चक्रों के मूल में है शरीर और ब्रह्माण्ड में समरूपता दिखाने का प्रयास। जैसे, पृथ्वी के नीचे सात खंड- अतल, वितल, सुतल, महातल, रसातल, तलातल और पाताल कहे जाते हैं तथा पृथ्वी से ऊपर भुवः स्वः महः जनः तपः और सत्य लोकों की कल्पना है। उसी प्रकार शरीर में मेरुदण्ड से नीचे मूलाधार चक्र भू-लोक है। उसके नीचे सात

स्थान पदतल, एड़ी, गिट्ट, पिण्डली, जानु, जंघा और तड़ागी हैं तथा पृथ्वी से ऊपर के लोकों के समकक्ष, शरीर में मूलाधार से ऊपर स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार नामक सात चक्र या स्थान हैं। किसी ने इसी को चक्रव्यूह के सात फाटक कहा तो किसी ने इसे भक्ति के सात सोपानों की संज्ञा दी-

एहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। रघुपति भगति केर पंथाना।। (मानस)

नैगमिक परम्परा के अनेक उपनिषदों, जैसे कृष्णयजुर्वेदीय अक्ष्युपनिषद् के द्वितीय खण्ड में इन्हीं को योग की सात भूमिकाएँ (असंवेदन, विचार, असंसर्गा, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्या और विदेहमुक्ति) कहा गया। सामवेदीय महोपनिषद् के पंचम अध्याय में ज्ञान के आठ साधन विवेक, वैराग्य, षड्सम्पति (शम, दम, श्रद्धा, समाधान, उपरामता और तितिक्षा), मुमुक्षा, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, साक्षात्कार- ये साधन, ज्ञान की सात भूमिकाएँ- शुभेच्छा, सुविचारणा, तनुमानसी, सत्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभावनी और तुर्यगा से चलकर परिपक्व होते हैं और परिणाम देते हैं। यही योग की सात भूमिकाओं या सात सोपान के रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं।

आरम्भिक भूमिका है शुभेच्छा अर्थात् शुभ के प्रति इच्छा। जिसमें अशुभ है ही नहीं, जो निर्दोष है, नित्य और परमसत्य है उसकी प्राप्ति के लिए इच्छा। इस परमश्रेय शाश्वत की इच्छा शुभेच्छा योग की पहली सीढ़ी है, शुभारंभ है। केवल इच्छा करने मात्र से ही शुभ उस परमाात्मा की प्राप्ति नहीं हो जाती। कहाँ ढूँढें उसे? उसके लिए सुविचार होने लगे, मंथन होने लगे, व्याकुलता आ जाय, वैराग्य के साथ सदाचरण की प्रवृत्ति विचारणा है। क्रमशः इन्द्रियों की विषयों से अनुरक्ति क्षीण होने लगती है, परमात्मा के प्रति आस्था सुदृढ़ होने लगती है तो तीसरी अवस्था तनुमानसा का उदय होता है। अब तक वह शरीर के कार्य-व्यापार को अपना समझता था, अब वह मन में ही तन वाला हो गया। मन जितना विकृत है उतना ही भूलों का कारण और जितना ही संयत है उतना स्वरूप की अभिवृद्धि, समझ में आते ही वह अन्तर्मुखी होने लगता है। एकान्त-देश के सेवन तथा मानसिक चिन्तन के फलस्वरूप योग की चौथी भूमिका सत्वापत्ति आती है- जो सत्य है, नित्य है, सनातन है उसकी जागृति। यहाँ आत्मा जागृत हो गई। चित्त शुद्ध स्वरूप में लगने लगता है। साधना और उन्नत होने पर असंसक्ति अर्थात् संसर्गहीनता स्वभाव में ढल जाती है। संसार के भले-बुरे वातावरण में असम्पृक्त या अलग रहने की क्षमता आ जाती है। कैसी भी परिस्थिति आ जाय, उससे अप्रभावित रहकर आगे बढ़ जाने की क्षमता असंसक्ति है। साधना और उन्नत होने पर छठी भूमिका 'पदार्थाभावनी'। पदार्थ अर्थात्

भोग-सामग्री। सांसारिक मनुष्य जागने से सोने तक रात-दिन पदार्थ ही तो ढूँढ़ रहा है। अपना भोग ही तो संग्रह कर रहा है; किन्तु इस अवस्था के योगी के लिए संसार में पदार्थ है ही नहीं। **'सीयराम मय सब जग जानी। करउँ प्रणाम जोरि जुग पानी।।'** एक ऐसा स्तर आ जाता है कि जहाँ प्रकृति थी वहाँ भगवान् का संचार दिखायी देने लग जाता है। जब विषय-वस्तु है ही नहीं तो मन जायेगा कहाँ?

'सरग नरक अपबरग समाना। जहँ तहँ देख धरे धनु बाना।।' इस स्तर के योगी में ऐसी दृष्टि का संचार हो जाता है कि न स्वर्ग स्वर्ग के रूप में रह जाता है जिसकी वह कामना करे और न नरक नरक के रूप में रह जाता है जिससे वह भयभीत हो; बल्कि **'जहँ तहँ देख धरे धनु बाना'**- वह सर्वत्र आराध्य देव के संचार को पाता है- यह है पदार्थ का अभाव।

साधना और भी सूक्ष्म होने पर योग की सातवीं भूमिका तुर्यगा आती है। महापुरुषों ने मन को तुरंग अर्थात् घोड़े की संज्ञा दी है क्योंकि यह अत्यन्त चपल है, गतिमान है, वेगवान् है। इस अवस्था का योगी मनरूपी तुरंग पर सवार हो जाता है। वह मन का गुलाम नहीं, संचालक हो जाता है। वह मन को जहाँ चाहे (चिन्तन में, श्वास में, रूप में, ब्रह्मविद्या में) कहीं भी रोक सकता है। यह मन की लगभग निरोधावस्था है; किन्तु मन अभी जीवित है। वह मन भी इतना शान्त हो जाय कि संकल्प-विकल्प की प्रक्रिया ही शान्त हो जाय, वहाँ मन मिट गया, क्योंकि संकल्प का ही दूसरा नाम मन है- **'मन मिटा माया मिटी, हंसा बेपरवाह। जाका कछू न चाहिए सोई शहंशाह।।'** मन मिटते ही माया मिट गयी, अब (हंस) यह संत स्थिति का योगी बेपरवाह हो जाता है। मानस में हंस का लक्षण बताया गया- **'जड़ चेतन गुन-दोष मय, विश्व कीन्ह करतार। सन्त हंस गुन गहहिं पय, परिहरि वारि विकार।।'** विध ााता ने गुण-दोष मिलाकर संसार को रचा; किन्तु वे सन्त हंस होते हैं जो ईश्वरीय गुणरूपी दूध को तो ग्रहण कर लेते हैं परन्तु विकाररूपी वारि का त्याग कर देते हैं। ऐसी स्थितिवाले सन्त हंस होते हैं। शेर को घास खिलायें तो क्या वह जीएगा? मछली को जल से बाहर रखें, तो क्या वह जीवित रह सकेगी? इसी प्रकार ईश्वरीय गुण हंस की खुराक है। कदाचित् दुर्गुण खाने लगा तो हंस कहाँ? वह तो कौवा हो गया। इस प्रकार ईश्वरीय गुणों का संधान करते-करते मन का निरोध और निरुद्ध मन भी जिस क्षण विलय पा गया, तत्क्षण वह परम चेतन का प्रतिबिम्ब प्राप्त कर लेता है। यही तुर्यातीत, विदेह, जीवन्मुक्त पुरुष है। जिसे पाना था पा लिया, जिस तत्त्व को ढूँढ़ता था विदित हो गया तो वह योगी निश्चिन्त हो जाता है। **'जाका कछू न**

चाहिए'– यदि आगे कुछ होता तो चाह अवश्य होती। जब चाहने लायक भी आगे कुछ न बचा तो **'सोई शहंशाह'**– वह बादशाहों का भी बादशाह आत्मतृप्त हो जाता है।

आगम ग्रन्थों में योग के इन सप्त सोपानों की परिकल्पना शरीरस्थ सात चक्रों के रूप में की गई है, जैसे- शुभेच्छा योग का मूलाधार है। सुविचारणा स्वाधिष्ठान चक्र है। तनुमानसा मणिपूरक चक्र है। सत्वापत्ति-अनाहत, असंसक्ति-विशुद्ध, पदार्थभावनी- आज्ञा और तुर्यगा सहस्रार चक्र हैं। स्वामी ब्रह्मानन्द जी एक अच्छे भजनानन्दी महात्मा हुए। अपने एक पद में उन्होंने कुण्डलिनी योग का संक्षिप्त परिचय दिया है-

निरंजन पद को साधु कोई पाता है।।............
मूल द्वार से खींच पवन को, उलटा पंथ चलाता है।
नाभी पंकज दल में सोयी, नागिन जाइ जगाता है।
मेरुदण्ड की सीढ़ी बनाकर, शून्य शिखर चढ़ जाता है।
भँवर गुफा में जाय विराजै, सुरता सेज बिछाता है।
शशि मण्डल से अमृत टपके, पीकर प्यास बुझाता है।
सब कर्मों की धूनी जलाकर, तन में भस्म रमाता है।
ब्रह्मानन्द स्वरूप मगन हो, आप ही आप लखाता है।
निरंजन पद को साधु कोई पाता है।।...........

ब्रह्मानन्द जी ने परमपद को निष्कलुष निरंजन पद की संज्ञा दी है। **'गुरु पद रज मृदु मंजुल अंजन'**– गुरु महाराज जी का चरण-रज कोमल सुन्दर अंजन के समान है जिससे हृदय के विवेकरूपी नेत्र जागृत हो जाते हैं। इस अंजन का प्रभाव बताया- **'सुकृत संभु तन बिमल बिभूती। मंजुल मंगल मोद प्रसूती।।'** पुण्यात्मा शंकर जी के शरीर में जो निर्मल ऐश्वर्य पाया जाता है वह गुरु महाराज के चरण-रज का ही प्रभाव है। एक शिव तो वह हैं तो पुण्य-पाप से परे हैं, दूसरे वह पुण्यात्मा शंकर जी, यह दो कैसे? वस्तुतः **कः पूजनीय? शिवतत्त्वनिष्ठः।** सृष्टि में पूजनीय कौन है? जो शिवतत्त्व में स्थित है वह महापुरुष। शिव ज्योतिर्मय परमात्मा की स्थिति का नाम है। उस तत्त्व की प्राप्तिवाला शिव है। उसे प्राप्त करने का अधिकारी भी कोई पुण्यात्मा ही होता है। आज का पुण्यात्मा सद्‌गुरु के चरण-रज का अंजन लेकर शिवस्वरूप को प्राप्त करता है, आज का पुण्यात्मा कल की स्थितिवाला होता है। निरंजन पद उस परमपद की प्राप्ति है जिसके लिए गुरु महाराज के चरण-रज का आश्रय लिया था, उसकी भी आवश्यकता न रह जाय, अंजन का परिणाम निकल

आया हो, तत्त्व विदित हो गया हो, कैवल्य स्थिति मिल गयी हो। उस निर्दोष, निर्लेप अविनाशी परमपद को, निरंजन पद को कोई विरला ही सन्त प्राप्त कर पाता है।

उसे प्राप्त करने की विधि क्या है? **'मूल द्वार से खींच पवन को, उलटा पंथ चलाता है।'** मूलद्वार में चार पंखुड़ियों का कमल अधोमुख है, साधना द्वारा उसे ऊर्ध्वमुख किया जाता है। अन्तःकरण चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) यही चतुर्दल कमल हैं। ये अधोमुख हैं। प्रकृति की ओर, आवागमन की ओर हैं। इनको बाँधो, उधर जाने से रोको। यही मूलबन्ध है। यदि हम इनको न बाँध सके तो भजन नहीं होगा। क्योंकि जिन्हें भजन करना है वे अधोमुखी चिन्तन कर रहे हैं- मन संकल्प प्रकृति का कर रहा है, चित्त प्रकृति का चिन्तन कर रही है, बुद्धि प्रकृति का ही निर्णय ले रही है और इसमें कदाचित् सफलता मिली तो अहंकार भी प्रकृति का। यही तो छुड़ाना है। इसलिए मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार जो अधोमुखी प्रवृत्तियों की ओर उन्मुख हैं, उन्हें उधर से बन्द करें, ऊर्ध्वमुखी करें, इष्टोन्मुखी करें। संकल्प करनेवाली प्रशक्ति का नाम मन है, संकल्प का बार-बार चिन्तन करनेवाली शक्ति चित्त है। चिन्तन करते-करते किसी निश्चय पर पहुँचे तो निश्चय करनेवाली शक्ति बुद्धि, और निश्चय कर्म में परिणित हो गया तो 'हमने किया' यह अहंकार- यही चार दल वाला कमल है। यह प्रकृति की ओर उन्मुख है, पहले इसी को बाँधो। मन संकल्प करे तो हरि का, चिन्तन करे तो इष्ट का, निश्चय करे तो उसी का और अहंकार भी हो तो प्रभु का- **'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे।।'** यही है मूलबन्ध। इतना होते ही भजन की शुरुआत हो गयी। इसका नाम है मूलद्वार। यह योग-साधना का प्रथम द्वार है, आत्म-दर्शन की पहली खिड़की है। अन्तःकरण चतुष्टय में विषयरूपी बयार चलती ही रहती है उसको खींचो और उलटा पन्थ चला दो, विषयों की ओर से इष्ट की ओर उसकी धारा मोड़ दो। अभ्यास जहाँ उन्नत हुआ तो-

नाभि पंकज दल में सोयी, नागिन जाय जगाता है।

नाभि कहते हैं केन्द्र को। जहाँ भले-बुरे सारे संस्कारों का केन्द्रीयकरण है उस नाभि कमल के त्रिकोण में कुण्डली मारकर नागिन पड़ी हुई है। वास्तव में नागिन यह चित्तवृत्ति है जो सत्, रज और तम इन तीनों गुणों के अन्तराल में कुण्डली लगाकर बैठी है। विषयोन्मुख यह चित्तवृत्ति विषयरूपी विष उगलती ही रहती है, जीव को भयंकर यातनाएँ देती ही रहती है। नाभि में षड्दल कमल अधोमुखी षड्विकारों काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर के प्रतीक हैं। ऊर्ध्वमुखी हो जाने पर यही

षड्सम्पत्ति विवेक, वैराग्य, शम, दम, त्याग, तितिक्षा इत्यादि में परिणित हो जाते हैं न कि सचमुच का कमल खिलता है। चित्त को षड्विकारों से समेटकर षडैश्वर्य की ओर प्रवाहित करना नागिन को जगाना है।

'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।' गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन! जगत्‌रूपी रात्रि में सभी प्राणी निश्चेष्ट पड़े हुए है। रात-दिन जो दौड़- धूप करते हैं, मात्र स्वप्न देखते हैं, केवल संयमी पुरुष जाग जाता है। संयम तभी सम्भव है जब विवेक, वैराग्य, शम, दम, त्याग, तितिक्षा का संचार आ जाय। यही गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं- **'मोहनिसाँ सबु सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा।।'** मोहरूपी रात्रि में सब लोग निश्चेष्ट पड़े हुए हैं। जो रात-दिन दौड़ते हैं मात्र स्वप्न है। लोग चाहे स्वर्ग का ऐश्वर्य इकट्ठा कर लें लेकिन जहाँ आयु के दिन पूरे हुए तो **'सोइ पुर पाटन बहुरि न देखा आइ।'**- दुबारा लौटकर कुछ भी तो देख नहीं पाते। इससे जागता कौन है? **'एहि जग जामिनि जागहिं योगी। परमारथी प्रपंच बियोगी।।'** परमार्थी अर्थात् परम धन परमात्मा के पिपासु, प्रपंच के वियोगी योगीजन इस जगत्‌रूपी रात्रि से जग जाते हैं। जब तक मोहरात्रि में सोया है नागिन डसती रहती है, जन्म पर जन्म प्रदान करती रहती है। इसका विष उतरता नहीं, जीव कराहता रहता है, पूरा मरता भी नहीं; क्योंकि उसमें ईश्वर का अंश जो ठहरा। सर्वथा नाश तो नहीं होता। हाँ, चैन भी नहीं मिलता। **'जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा।।'**- जीव को तब जागृत समझिये जब उसे समस्त विषयों से वैराग्य हो जाय। इस प्रकार सभी महापुरुष एक ही बात कह रहे हैं।

जहाँ साधना जागृत हुई, भजन का उतार-चढ़ाव श्वास से निर्धारित होने लगता है। प्रत्येक महापुरुष ने इस पर बल दिया है- **'श्वास-श्वास पर राम कहु, वृथा श्वास मत खोय। ना जाने यहि श्वास का, आवन होय न होय।।'** भगवान् बुद्ध कहते हैं- श्वसन क्रिया पर, प्राण-अपान पर ध्यान दो। समय-समय पर भाषा-भेद से विभिन्न शब्दावलियों का प्रयोग महापुरुषों ने किया, समझाने के तरीके बदले; किन्तु विषय-वस्तु ज्यों-की-त्यों रही। वैसे तो श्वास से सम्पूर्ण शरीर ऊर्जस्वित है; किन्तु इसके माध्यम से मन को अन्तर्मुखी और एकाग्र करने के लिए नासिका से मेरुदण्ड के सहारे नाभिपर्यन्त श्वास के गमनागम के निरीक्षण का निर्देश महापुरुषों ने दिया है। मन को द्रष्टा बनाकर खड़ा कर दें, देखते रहें कि कब श्वास अन्दर गयी, कब लौटी। बाहर कितनी देर रुकी। पुनः कब अन्दर गयी। हमारी जानकारी के बिना एक भी श्वास न जाने पाये। इस श्वास पर सुरत को स्थिर करें और जब देखने की

क्षमता आ जाय तो धीरे से चिन्तन का नाम इसमें ढाल दें। श्वास अन्दर गयी तो ओम्, बाहर आयी तो ओम्। ओम्-ओम् या राम-राम जो भी नाम आपको अनुकूल पड़े, जो उस प्रभु का परिचायक हो, ऐसे किसी एक नाम को श्वास में ढाल दें। नागिन जगकर श्वास के चिन्तन में प्रवाहित हो गयी। इसका नाम है मेरुदण्ड की सीढ़ी। किसी-किसी उपनिषद् में मेरुदण्ड को वीणादण्ड भी कहा गया है। श्वास-प्रश्वास की क्रिया द्वारा मेरुदण्ड की सीढ़ी बनाकर योगी उस शून्य शिखर पर आरूढ़ हो जाता है जहाँ भले-बुरे सभी संकल्प शान्त हो जाते हैं। केवल लक्ष्य मात्र रह जाय अन्य कुछ भी याद न रहे। जिसे चाहते हैं सजगतापूर्वक उसे देखते रहें, जड़ न हो जायँ। प्रेमपूरित हृदय से सुरत उस नाम पर हो, श्वास में सुरत की डोर लग जाय। पूज्य महाराज जी के शब्दों में, श्वास बाँस की तरह एकदम सीधी खड़ी हो जाय। ओम्-ओम् की एक धुन प्रवाहित हो जाय। हृदय से न किसी संकल्प का अभ्युदय होता हो और न ही बाह्य वायुमण्डल के संकल्प अन्दर प्रवेश कर पाते हों। जहाँ सुरत लगाया वहीं लगी है, चिन्तन चल रहा है- यही है शून्य शिखर। यही साधना का शिखर है। ऐसा योगी **'भ्रमर गुफा में जाय विराजे, सुरता सेज बिछाता है।'** महापुरुषों ने परमात्मा को पुष्प तथा मन को भ्रमर की संज्ञा दी है। संत कबीर का एक प्रसिद्ध भजन जो महाराज जी को बहुत प्रिय था, इसी आशय का था कि **'फुलवा के छुअत भँवर मरि जाई। का कही, केसे कही को पतिआई?'** अस्तु, परमात्मा एक पुष्प है। यह मनरूपी भ्रमर, जो उसकी प्राप्ति के लिए विकल था, जहाँ शून्य शिखर पर पहुँचा, शून्य की कन्दरा में शान्त, सम बैठ जाता है, रुक जाता है; किन्तु उसके लिए सुरत की शय्या आवश्यक है अन्यथा मन कभी नहीं रुकेगा। सुरत मन की दृष्टि का नाम है। आप यहाँ बैठे हैं। मान लें, छत्तीसों रंग बरस रहे हैं, आप मन-मस्तिष्क से सुध-बुध खोये बैठे हुए हैं, सहसा कोई कान में कह देता है कि बच्चा छत से गिर गया, बेहोश हालत में अस्पताल गया। तत्क्षण आपको यहाँ का कुछ भी दृश्य दिखायी नहीं देगा जबकि आँखें खुली है, कान खुले हैं फिर भी कुछ सुनायी नहीं देगा जबकि एक मिनट पहले आप इन्हीं दृश्यों में खोये हुए थे। बच्चे का एक-एक रोम दिखायी पड़ने लगेगा, दाँत कैसे? आँख कैसी? नाक कैसा? हाथ-पाँव कैसे? हथेलियाँ कैसी? रेखायें कितनी? आँखों की चितवन, बरौंनी सब कुछ स्पष्ट दिखायी देने लगेगा। वस्तु नहीं है फिर भी वस्तु का जो दृश्य प्रस्तुत कर दें, मन की उस दृष्टि का नाम सुरत है। इसी सुरत से भजन किया जाता है। योगी इस सुरत को श्वास पर लगाकर ही शयन करता है।

'शशि मण्डल से अमृत टपके, पीकर प्यास बुझाता है।' सुरत जब शून्य शिखर पर टिक ही गयी तो **'मन ससि चित्त महान'**– ईश्वरीय आभा उतर आती है। मृत्यु से परे जो अविनाशी अमृततत्त्व परमात्मा है उसका संचार मिलने लगता है। जहाँ उसे पाया तो इस जीवात्मा की प्यास सदा-सदा के लिए मिट जाती है। अन्य किसी धन-धान्य से, ऐश्वर्य समृद्धि से इसकी प्यास कभी नहीं मिटी है। इसकी प्यास तभी मिटती है जब यह जिसका विशुद्ध अंश है, जिसकी सन्तान है, अपने मूल उद्‌गम उस परम प्रभु को प्राप्त कर ले। अपने सहज स्वरूप को पाकर ही इसकी प्यास मिटती है। जिसे पाना था पा लिया, अब भजन करके ढूँढ़े किसे? कर्म करें तो किसलिए? अतः **'सब कर्मों की धूनी जलाकर, तन में भस्म रमाता है।'** जो भजन-साधन, कर्म अनिवार्य था, प्राप्ति के पश्चात् उन कर्मों की धूनी जल गयी। उसके जलने से कोई क्षति नहीं हुई। उसके द्वारा जो विभूति है, ऐश्वर्य है- वह तन में आ गयी।

भगवान् श्रीकृष्ण गीता (अध्याय-४/१६-१६) में कहते हैं- अर्जुन! कर्म, अकर्म और विकर्म क्या है, बड़े-बड़े विवेकी लोग भी इससे भ्रमित हैं। इस कर्म को किये बिना न कोई पाया है और न कोई प्राप्त कर सकेगा। पूर्व में होनेवाले जितने भी महापुरुष हुए हैं इसी कर्म को करके परमनैष्कर्म्य की स्थिति को प्राप्त हुए हैं; किन्तु **'यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।'**– सम्पूर्णता से आरम्भ किया हुआ जिसका कर्म इतना सूक्ष्म हो गया कि कामना और संकल्प से ऊपर उठ गया, **'ज्ञानाग्नि दग्धकर्माणं'**– ज्ञानाग्नि में उसके कर्म सदा-सदा के लिए जल जाते हैं। **'तमाहुः पण्डितं बुधाः'**– ऐसी स्थितिवालों को ही बोधस्वरूप महापुरुषों ने पण्डित कहकर सम्बोधित किया है।

गीता, ५/१६ में भगवान् कहते हैं, **'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थित मनः। निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः।।'**– अर्जुन! उन पुरुषों के द्वारा जीवित अवस्था में ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया जिनका मन समत्व में स्थित हो गया, सुरत की सेज लगाकर शून्य में अचल स्थिर रुक गया। अब मन के अचल स्थिर ठहरने और संसार जीतने में क्या सम्बन्ध है? श्रीकृष्ण कहते हैं, **'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'**– वह ब्रह्म निर्दोष और सम है, इधर उसका मन भी निर्दोष और सम की स्थिति वाला हो गया। **'तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः'**– इसलिए वह ब्रह्म में स्थित हो जाता है।

अभी चौथे अध्याय के **'ज्ञानाग्नि दग्धकर्माणम्'** की चर्चा हुई। ज्ञान का अर्थ कुछ सिद्धान्त रट लेना नहीं होता। ज्ञान का अर्थ है परमात्मा के दर्शन के साथ मिलनेवाली अनुभूति। गीता के अध्याय १०/३ में भगवान् कहते हैं, **'यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्। असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते।।'**- जो अजन्मा, अनादि, समस्त लोकों के महान् मुझ ईश्वर को विदित कर लेता है वह पुरुष मरणधर्मा मनुष्यों में ज्ञानवान् है। जब ईश्वर विदित होता है उस समय जो अनुभूति मिलती है उसका नाम ज्ञान है। यदि क्रियात्मक चलकर किसी ने देखा नहीं तो सिद्धान्त पढ़ते रहें, कुछ भी मिलनेवाला नहीं है। हिमालय के नक्शे दिन-रात देखते रहें किन्तु पता तो तब चलेगा जब हिमालय पर पाँव रख देंगे। अस्तु, साधना की पूर्ति में मन के निरोध और विलयकाल में अविदित प्रभु के विदित होने के साथ मिलने वाली जानकारी ज्ञान है। गीता के अनुसार, हर महापुरुष के अनुसार, जिसे जानना था जान लिया, आगे कोई सत्ता नहीं तो ढूँढ़े किसे? **'दग्धकर्माणम्'**- कर्म सदा के लिए जल जाता है। आगे कोई भगवान् बचा ही नहीं तो जायेगा कहाँ, पूजेगा किसे? इसलिए भजन भी समाप्त। अब **'भजन हमारा हरि करें, हम पाये विश्राम।'** यही है **'सब कर्मों की धूनी जलाकर तन में भस्म रमाता है।'** अन्त में कहते हैं, **'ब्रह्मानन्द स्वरूप मगन हो, आप ही आप लखाता है।'** वह साधक कण-कण में व्याप्त बृहद् उस ब्रह्म के आनन्द में निमग्न हो जाता है। **'आप ही आप लखाता है।'** भगवान् जब अपनाते हैं तो अलग से जीव बनाकर नहीं बैठाते- **'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।।'** सेवक सदा के लिए खो जाता है, स्वामी ही शेष बचा रहता है। **'ईस्वर अंस जीव अविनासी'**- यह जीव परमात्मा का विशुद्ध अंश है, अविनाशी है। साधना के सही दौर में पड़कर जहाँ मूल का स्पर्श किया, जो अंश था वह मिट गया और अंशी जो व्यापक था, शेष बच रहा। तो **'सुरसरि मिले सो पावन कैसे। ईस अनीसहिं अंतर तैसे।।'** वह विलय पा गया, भगवान् की भगवत्ता को सर्वत्र अपने में ओत-प्रोत पाया। प्रभु जब अपनाते हैं तो अपना प्रभुत्व प्रदान कर देते हैं। जीव बनाकर, सेवक बनाकर नहीं रखते इसलिए **'आप ही आप लखाता है।'** ऐसे निरंजन पद को कोई सन्त अवश्य प्राप्त करता है।

स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने शरीरस्थ सातों चक्रों का उल्लेख अपने पद में नहीं किया किन्तु मेरुदण्ड की सीढ़ी में इन चक्रों का अन्तर्भाव समझा जा सकता है। मूलाधार की चर्चा उन्होंने की है। इससे क्रमोन्नत चक्र स्वाधिष्ठान है। स्व का अर्थ है आप स्वयं, अधिष्ठान का अर्थ निवास अर्थात् अपने स्वरूप के प्रति आस्था सुदृढ़ हो गयी।

अब आप हटाये नहीं जा सकते। उस समय अधोमुखी षड्दल, षड्विकार काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर हैं। ऊर्ध्वमुखी होने पर यही षडैश्वर्य विवेक, वैराग्य, शम, दम, त्याग और तितिक्षा में परिणित हो जाते हैं। यही कमल का खिलना है।

साधन और भी उन्नत होने पर मणिपूरक चक्र आता है। यहाँ दस दल कमल है- पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, जो पहले अधोमुखी थीं इष्टोन्मुखी हो जाती हैं। ये संयत हुईं तहाँ मणिपूरक। महापुरुषों ने एक-एक श्वास को मणि की संज्ञा दी है। **'तात भगति मनि उर बस जाके। दुख लवलेस न सपनेहु ताके।।'** यह भक्तिरूपी मणि जिसके हृदय में बसती है, रंचमात्र भी दुःख उसके लिए सृष्टि में कहीं है ही नहीं। अष्टधा मूल प्रकृति अष्टसिद्धि के रूप में परिवर्तित हो गई। किसी-किसी ने यहाँ के कमल को आठ दलों वाला कहा है। सांसारिक कीचड़ से निर्लेप रहने के कारण योगी को कमलवत् कहा गया है।

साधना उत्तरोत्तर उन्नत होने पर अनाहत चक्र में प्रवेश मिलता है। यहाँ द्वादश कमल खिलता है। दस इन्द्रियाँ तो थीं ही, इसमें मन और बुद्धि, संकल्प और निश्चय की दो पंखुड़ियाँ और मिल गयीं। द्वादश दल कमल खिल गया। वह भगवान् की विभूतियों को धारण करनेवाला हो जाता है। वह प्रकृति के थपेड़ों से आहत नहीं होता। वह अपने श्रेयपथ पर अग्रसर रहता है।

इस क्षमता के अनन्तर विशुद्ध चक्र षोडश पंखुड़ियों का है। यह स्थूल शरीर पाँच तत्त्व क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर का बना है। इसके अन्तराल में एक सूक्ष्म शरीर है जो मन का संसार है, वह सोलह तत्त्वों से बना है। दस इन्द्रिय, चतुष्टय अन्तःकरण, तैजस् और प्राज्ञ- इनमें ईश्वरीय आभा का प्रस्फुटन हो जाता है-

कबिरा मन निर्मल भया, जैसे गंगा नीर।
पाछे लागे हरि फिरैं, कहत कबीर कबीर।।

सोलह तत्त्वों का यह सूक्ष्म शरीर जब विशुद्ध हो गया तहाँ आज्ञाचक्र। स्वामी और सेवक आमने-सामने हो जाते हैं। यही इस चक्र के दो दल हैं। साधक को केवल आज्ञापालन करना है। उन्हीं के निर्देशन में चलते-चलते जब साधना और उन्नत हुई तो अन्तिम चक्र सहस्रार चक्र आता है। सहस्र का अर्थ अनन्त भी होता है। अनन्त प्रवृत्तियाँ जब इष्टोन्मुखी हो जायँ, भगवान् की आज्ञा में चलते-चलते एक भी प्रवृत्ति अधोमुखी नहीं रह गई, तहाँ **'विश्वे अणुः स विष्णुः'-** विश्व में जो अणुरूप से व्याप्त सत्ता है वह परमात्मा अपनी अनुभूति देने लगते हैं। अपनी विभूतियों से अवगत कराते हैं। साधन नहीं समझता तो काकभुसुण्डि की तरह, अर्जुन की तरह

भगवान् उसे विराट् रूप का दर्शन कराते हैं। उसे जानकर साधक उसी भाव को प्राप्त हो गया। **'जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई।'** जीव की संज्ञा समाप्त। परमात्मा उस तन को अपना निवास बना लेता है।

'राम भगत हित नर तन धारी। सहि संकट किये साधु सुखारी।।' भक्त के हित के लिए भगवान् उस नर का तन धारण कर लेते हैं। संकट सहन कर भी सन्तों को सुखी कर देते हैं।

सारांशतः हठ, कुण्डलिनी, विभिन्न चक्रों की परिकल्पना साधक को अन्तर्मुखी करने का प्रयास मात्र है। अधिकांश सन्तों ने चक्र-भेदन की अपेक्षा भक्ति को श्रेष्ठ माना है; क्योंकि भक्ति से ये सभी अवस्थाएँ अपने आप सहज ही पार हो जाती हैं। इसीलिए प्राचीन आर्षग्रन्थों में इनकी चर्चा तक नहीं है। मन के निरोध के साथ ही भगवान् की स्थिति- महापुरुषों ने समय-समय पर यही समझाया है। सम्पूर्णतः तथा क्रमबद्ध जानने के लिए आपका शास्त्र गीता है। भगवान् श्रीकृष्णोक्त गीता योगदर्शन है। इस गीता की परिभाषा 'यथार्थ गीता' आश्रम से प्रकाशित हुई है। अवलोकन से योग-सम्बन्धी, श्रेय-सम्बन्धी कोई भ्रान्ति आपको कभी नहीं होगी।

।। ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान् की जय।।

रामकथा के आलोक में

द्रविड़ और आर्य

प्रश्नः- महाराज जी! दक्षिण भारतीयों को सिखाया जा रहा है कि आर्य भारत में बाहर से आये, उन्होंने यहाँ के शान्तिप्रिय मूल निवासी द्रविड़ों को दक्षिण भारत की ओर खदेड़ दिया। उत्तर भारत के राम-लक्ष्मण ने दक्षिण भारत की सूपनखा को अपमानित किया, राजा रावण को पराजित किया। उनका यशोगान वाल्मीकि की 'रामायण'- विजेताओं द्वारा लिखित सवर्णों की कपोल कल्पित गाथा है, जिससे राम की साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का परिचय प्राप्त होता है। इसलिए दक्षिण भारतीयों को रामकथा का बहिष्कार करना चाहिए। इस ज्वलन्त प्रश्न पर प्रकाश डालने की कृपा की जाय।

उत्तरः- देखिये, दक्षिण भारतीयों को उत्तर भारतीयों से अलग करने का प्रयास नया नहीं है। राजनीतिक स्वार्थ से प्रेरित विदेशी शासकों ने उत्तर और दक्षिण भारत में 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति के अन्तर्गत यह विष-वमन किया जिसके सन्दर्भ में आश्रमीय साहित्य 'जीवनादर्श एवं आत्मानुभूति' तथा 'शंका समाधान' के आर्य विषयक लेख में प्रकाश डाला गया है। आज हम रामकथा के मूल प्रस्तोता आदिकवि महर्षि वाल्मीकिकृत रामायण तथा उसी पर आधारित गोस्वामी तुलसीदास जी की रामचरितमानस के आलोक में इस प्रश्न पर विचार करेंगे।

रामायण मूलतः आध्यात्मिक ग्रन्थ है। शास्त्र दो दृष्टियों से लिखा जाता है- एक तो इतिहास को अक्षुण्ण रखना जिससे भावी पीढ़ी पूर्वजों के पदचिन्हों पर चलकर मर्यादित सुसभ्य जीवन जी सके; किन्तु केवल सफलतापूर्वक जी-खाकर आयु के दिन पूर्ण कर लेने से जीव का वास्तविक कल्याण सम्भव नहीं है, इसलिए शास्त्र-लेखन का दूसरा दृष्टिकोण अध्यात्म है। हर जीव माया के अधीन है। माया जैसा चाहती है, नाच नचाती है। इसे माया के चंगुल से निकलकर आत्मिक परिवेश में पहुँचाना, आत्मा का आधिपत्य दिलाना, उनके निर्देशन में चलते हुए आत्म-दर्शन, स्पर्श और स्थिति प्रदान करना, आत्मभाव की प्राप्ति- इसका नाम अध्यात्म है। अध्यात्म ऐसा जीवन प्रदान करता है जिसके पीछे मृत्यु नहीं है, सदा रहनेवाली शान्ति, समृद्धि और धाम प्रदान करता है। इसी का नाम मोक्ष है। इन्हीं दो दृष्टियों से शास्त्र की रचना होती है। रामायण या रामचरित मानस में वर्णित राम का इतिवृत्त आपका सच्चा इतिहास है। घटनायें अवश्य घटित हुईं, उन्हीं को उदाहरण बनाकर महापुरुषों ने आत्म-जगत् के तथ्यों को भी हृदयंगम कराने का प्रयास किया है।

रामायण इन दोनों ही दृष्टियों का अनोखा संगम है। समझ में न आने के कारण प्रत्युत् निहित स्वार्थवश इसे कपोल कल्पित या कुछ भी कह लें, वस्तुतः यह आपके पूर्वजों का निर्मल इतिहास है।

सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यों का एक ही सम्बोधन था। परम पावन परमात्मा से मनुष्य की उत्पत्ति है। मनु से जायमान होने से सभी मनुष्य या मनुज कहलाते हैं। आदि मनु एकछत्र सम्राट थे। वे राजा थे। उनसे उत्पन्न होने के कारण सभी मनुष्य राजवंशीय हैं, सभी राजपुत्र और सूर्यवंशी हैं; क्योंकि मनु सूर्यपुत्र थे। सूर्य परमात्मा का वह ज्योतिर्मय अंश है जिससे मानव की संरचना हुई। महाराज मनु से जो उत्पत्ति हुई, सभी पावन थे- **'स्वायंभू मनु अरु सतरूपा। जिन्हतें भै नर सृष्टि अनूपा।।'** स्वायंभू अर्थात् स्वयं कर्त्ता-धर्त्ता मनु और सत्यस्वरूपा माँ से जो सृष्टि हुई वह अनुपम थी, उसकी कोई उपमा, कोई तुलना नहीं थी। सभी परम पावन थे।

शनैः-शनैः लाखों वर्ष व्यतीत हुए, सृष्टि में घनत्व आया किन्तु एक सम्राट की परम्परा चलती रही। मनु की सन्तान इक्ष्वाकु महाराज हुए। उन्हीं के वंश में महाराज कश्यप हुए। उनकी दो रानियाँ दिति और अदिति थीं। इनकी सन्तानों में श्रेष्ठता को लेकर नोंक-झोंक होने लगी। दिति की सन्तान दानव कहलायी। वे पराक्रम पर विश्वास करते थे, प्रकृति के भोग और संग्रह पर विश्वास करते थे, असुर कहलाये। अदिति की सन्तानें देव कहलायीं क्योंकि वे परमदेव परमात्मा पर विश्वास करते थे। प्रभु को प्राप्त करानेवाली जितनी दैवी सम्पद् थीं, उसे धारण करनेवाले थे। इस प्रकार देव और दानव सगे भाई थे किन्तु वे दो भागों में बँट गये।

विभाजन के पश्चात् भी देव और दानवों में आपस की रिश्तेदारियाँ ज्यों-की-त्यों थीं। दानवराज पुलोमा की कन्या शची देवेन्द्र को व्याही थी। देवेन्द्र की कन्या जयन्ती असुर गुरु शुक्राचार्य की पत्नी थी। यह आदान-प्रदान चल रहे थे, जैसे भाई-भाई खेत की मेंड़ पर लड़ जाते हैं उसी प्रकार यह भी लड़ गये। दोनों में मतभेद देव-संस्कृति और असुर-संस्कृति का था। देवता भगवान् पर निर्भर होकर चलनेवाले थे, तो असुर अपने बाहुबल पर निर्भर होकर चलने में विश्वास करते थे। **'प्रभुता पाइ काहि मद नाहीं'** स्वाभाविक भी था।

राक्षसराज रावण इत्यादि दक्षिण भारतीय कदापि नहीं थे, न वह लंका निवासी ही थे। उन सबका जन्म देवलोक में हुआ था जो हिमालय की तलहटी में पश्चिम से पूरब तक हजारों-हजारों किलोमीटर असम और अरुणांचल तक फैला हुआ था। इस प्रदेश का वायुमण्डल अनादिकाल से प्रदूषण से मुक्त और शुद्ध रहा है। रोग के

कीटाणु नहीं हैं। कुछ भू-भाग तो ऐसे हैं जहाँ आज भी बीमारियाँ नहीं हैं। ऐसे देवलोक में मानसरोवर और कैलाश पर्वत से बद्रीनारायण के मध्य महाप्रतापी रावण का जन्म हुआ। यहीं अलकापुरी थी। उसके दादा पुलस्ति, पिता विश्रवा सब यहीं निवास करते थे। उसके ज्येष्ठ भ्राता कुबेर अलकापुरी के महाराज थे। वह देवताओं के कोषाध्यक्ष भी थे।

रावण इन्हीं वैश्रवण का अनुज था। जीवन के आरम्भिक वर्ष उसने कठोर तपश्चर्या में बिताये। उन दिनों रावण भक्त था। तपस्या से शक्तियाँ प्राप्त होती गईं- लाखों वर्ष की आयु, शिर कट जाने पर भी जीवित, सहस्रों बार सिर कटने पर भी जीवित, नाभि में अमृत, इतनी शक्तियाँ पाकर वह उच्छृंखल हो गया। बड़े भैया कुबेर का विमान छीनकर चल दिया। कुबेर ने सोचा अनुज है, इससे क्या लड़ें? पिताश्री से उसकी शिकायत की, दादा से की। पुलस्त्य ने कहा, ''ले जाने दे, उसकी हैसियत नहीं है कि पुष्पक को रख सके। उसे कुछ दिन घूम लेने दे, पुनः पुष्पक तुम्हारे पास स्वतः आ जायेगा।'' लाखों बरस तक रावण उसमें घूमता रहा। जब रावण मारा गया, राम पुष्पक में बैठकर अयोध्या आये तो राम ने कहा, 'पुष्पक! **तुम्ह कुबेर पहिं जाहु।'** उन्होंने पुष्पक कुबेर के पास भेज दिया। बिना किसी संघर्ष के कुबेर ने पुष्पक प्राप्त कर लिया। क्या आविष्कार था पूर्वजों का, लाखों वर्ष तक रावण उसमें घूमता रहा, न कहीं मोबिल आयल बदलना पड़ा, न कोई कल-पुर्जा ही खराब हुआ।

पुष्पक में बैठकर रावण त्रिलोक विजय के लिये निकला। उसे राजधानी बनाने की चिन्ता हुई; क्योंकि हिमालय में अग्रज का ही शासन था यद्यपि लोलुप दृष्टि वहाँ भी थी। रावण घूमते हुए गन्धर्व नगर पहुँचा, जो समुद्र के मध्य था। समुद्र के परकोटे के मध्य सुरम्य नगरी पर दृष्टि पड़ते ही रावण ने गन्धर्वों को वहाँ से मार भगाया और वहाँ अपनी राजधानी बनायी। अस्तु, रावण दक्षिण भारतीय नहीं था।

राजधानी चयन के उपरान्त रावण ने अपने पुत्र अहिरावण को पाताल का राजा बना दिया। उसका पुत्र नारान्तक बिहबावलपुर (ब्रिटेन) का सम्राट हो गया। उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में कथा है कि अभुक्त मूल नक्षत्र में लंका में ७२ करोड़ लड़के उत्पन्न हुए। भोगवादी संस्कृति में और होता भी क्या? उन अनिष्टकारी बच्चों को रावण ने समुद्र में फेंक दिया; किन्तु असुरों के लड़के इतनी आसान मौत नहीं मरते। वे तैरकर एक वट वृक्ष से लग गये, बड़े हो गये और नारान्तक विलायत (विदेश) में सम्राट भी हो गया।

राम-रावण युद्ध छिड़ने पर रावण ने अपने मंत्री द्वारा नारान्तक को युद्ध का आमंत्रण भेजा। नारान्तक के ७२ करोड़ भाई एक साथ पले-बढ़े थे, सभी एक रंग-रूप के थे और एक पंक्ति में सिहासनों पर बैठे थे। सबके एक जैसे चेहरे, एक रंग, वैसे ही मुकुट, सबकी एक जैसी वेश-भूषा देखकर भी वह बुद्धिमान् मंत्री चकित नहीं हुआ। वह स्तुति करने लगा। रावण के पूर्वजों, माता मन्दोदरी की प्रशस्ति के अनन्तर उसने रावण के पराक्रम का वर्णन करते हुए कहा कि महाराजाधिराज त्रिलोक विजयी रावण, उनके ज्येष्ठ पुत्र इन्द्रजयी मेघनाद के ज्येष्ठ भ्राता नारान्तक के चरणों में मैं प्रणाम निवेदित करता हूँ। सबकी दृष्टि नारान्तक की ओर घूम गयी; क्योंकि वे परस्पर तो जानते ही थे कि उनमें नारान्तक कौन है। बुद्धिमान् मंत्री ने उसे रावण का पत्र समर्पित किया।

इस प्रकार रावण और उसके वंशजों ने सम्पूर्ण विश्व पर अधिकार कर लिया। देवलोक उनके नियंत्रण में आ गया। मेघनाद ने इन्द्र को बन्दी बना लिया जिसे ब्रह्मा ने मुक्त कराया और आशीर्वाद में ब्रह्मशक्ति प्राप्त की। **'देव जच्छ गन्धर्व नर, किन्नर नाग कुमारि। जीति बरीं निज बाहुबल, बहु सुन्दरि बर नारि।।' (मानस, १/१८२)** देव-यक्ष-नर-नाग-किन्नर-गन्धर्वों की जितनी सुन्दर कुमारियाँ समझ में आयीं, रावण ने सबको पुष्पक में रख लिया, उनके आँसुओं से पुष्पक में धारा बह चली किन्तु उसे दया न आयी। रावण ने उनसे बरबस विवाह कर लिया। **'सुरपुर नितहिं परावन होई' (मानस, १/१७६/८)**- रावण के आतंक से देवलोक त्रस्त था।

देवलोक पर विजय कर रावण भारत की ओर उन्मुख हुआ तो लंका के समीपवर्ती किष्किन्धा नरेश को पराजित करने का विचार उसके मन में आया। आर्यावर्त में उसने सेंध लगाने की सोची, जहाँ लोग अस्तित्व के उपासक थे। महान् बलशाली किष्किन्धा नरेश बालि उस समय समुद्र तट पर अधोन्मीलित नेत्र से ईश्वर के ध्यान में निमग्न थे। रावण ने पृष्ठ भाग में जाकर उन्हें पकड़ा तो बालि ने आँखें बन्द रहने पर भी उसे पीछे से पकड़कर काँख में दबा लिया और उसी मुद्रा में समुद्र की परिक्रमा कर घर आये, हाथ उठाया तो रावण गिर पड़ा। अंगद ने देखा तो बाँध लिया।

पुलस्त्य ऋषि के संज्ञान में आने पर उन्होंने उसे मुक्त करा दिया, दोनों में सन्धि करा दी, मित्रता का हाथ बढ़वा दिया; किन्तु कुटिल रावण उस क्षेत्र पर अपने वर्चस्व के उपक्रम से विरत नहीं हुआ। उसने बालि से समझौता तो अवश्य कर लिया किन्तु अपने दो सालों दुन्दुभि और मायावी को बालि से लड़ने भेज दिया- **'मय**

सुत मायावी तेहि नाऊँ। आवा सो प्रभु हमरे गाऊँ।।' मय तनया मन्दोदरी और मय सुत था मायावी। ये बड़े पराक्रमी थे। इन्होंने समुद्र और हिमालय पर्वत को युद्ध के लिये ललकारा। उन्होंने कहा, ''असुरेश्वर! हम लोग आपकी तरह सामर्थ्यवान् नहीं हैं। इतनी दूर आने की क्या आवश्यकता थी? आपके समीपवर्ती नरेश बालि आपकी युद्ध पिपासा अवश्य पूर्ण कर देंगे। उसने बालि को ललकारा। बालि ने उसे पटककर मार डाला। दुन्दभि पहाड़-जैसे भैंसे का रूप बनाकर युद्ध करता था। बालि ने उसे उठाकर ४ योजन दूर फेंक दिया। मतंग ऋषि का आश्रम पास में था, रक्त के छींटे आश्रम में पड़ने पर ऋषि ने बालि को शाप दे दिया कि आज से इधर आये तो मारे जाओगे।

नर्मदा तट पर रावण शिवाराधन कर रहा था। पुष्पों का ढेर लगा हुआ था। पार्श्व में ही हैहय नरेश सहस्रार्जुन सपत्नीक जल-विहार कर रहे थे। नर्मदा का प्रवाह अवरुद्ध होने लगा। जलस्तर बढ़ने से रावण के पुष्प तैरने लगे, रावण जहाँ बैठा था चारों ओर जल हो गया। उसने मंत्रियों से कारण जानना चाहा, ज्ञात हुआ कि एक भयंकर व्यक्ति, हजार हाथोंवाला जल में बैठा है। रावण ने सेनासहित उस पर आक्रमण कर दिया। सहस्रार्जुन ने रावण की सारी सेना को मार भगाया। रावण के अंगरक्षक भी पलायन कर गये। सहस्रार्जुन ने रावण को बन्दी बना लिया। पुलस्त्य ऋषि आये, बोले, ''राजन्! यह मेरा पौत्र है, शरारती है, अब इसे क्षमा कर दें।'' हैहय नरेश ने उसे मुक्त कर दिया।

भारत के ये नरेश इतने शक्तिशाली थे कि इन पर रावण का वश चल नहीं पा रहा था। परशुराम जी वहीं के थे, महर्षि अगस्त्य वहीं के थे, शबरी वहीं की थी, मतंग का वहीं निवास था। गृद्धराज जटायु, उसके भाई सम्पाति महान् पराक्रमी और बलशाली थे। सीता का अपहरण कर रावण चला तो जटायु ने कहा, ''पुत्री! निश्चिन्त रहो। मैं आ रहा हूँ, अभी इस दुष्ट को मार गिराता हूँ।'' वह अत्यन्त वृद्ध गृद्ध चला तो रावण ने सोचा, **'की मैनाक की खगपति होई। मम बल जान सहित पति सोई।।'** मेरे पराक्रम को मैनाक पर्वत जानता है, मैंने उसे भगाया है अथवा यह गरुड़ हो सकता है किन्तु वह भी अपने स्वामी विष्णु समेत मेरा पराक्रम जानता है, इधर आने की उसकी हिम्मत कैसे पड़ी? समीप होने पर रावण ने उसे पहचान लिया कि यह तो वृद्ध गृद्ध है। प्रतीत होता है कि यह मेरे भुजाओं के तीर्थ में प्राणों का उत्सर्ग करना चाहता है। रावण ने उसके बल को कम ही आँका था। गीध ने रावण को पुष्पक से नीचे गिरा दिया, रावण ने चन्द्रहास से उसके पर काट दिये।

सागर तट पर जटायु के भ्राता सम्पाति का पुत्र सुपार्श्व अपने पिता के लिये आहार संग्रह कर रहा था, उसने रावण को विचित्र जीव समझ आहार के लिये पकड़ लिया। उस बलशाली युवक से लड़ने में अपनी भलाई न देखकर रावण उससे अनुनय-विनय करने लगा, "पक्षीप्रवर! आप उस महान् कुल के हैं जिसने सूर्य तक की यात्रा की है। आप सर्व वेदज्ञ हैं, वेद कहते हैं कि याचक को निराश नहीं करना चाहिए। मैं लंकाधिपति रावण आपसे पथ की याचना करता हूँ। आप ऐसे कुलीन व्यक्ति मर्यादा का त्याग कभी कर ही नहीं सकते। धर्म पर विचार कर आप मुझे मार्ग प्रदान कीजिए।" सुपार्श्व उसके झाँसे में आ गया, रावण बुद्धि-कौशल का प्रयोग कर निकल गया।

सायंकाल सम्पाति स्वल्प भोजन सामग्री देख पुत्र पर बरस पड़ा, "क्या यही भोजन होता है? दिनभर कहाँ मटरगस्ती कर रहे थे?" उसने बताया, "सामग्री तो पर्याप्त एकत्र कर लेता; किन्तु एक काली छाया दृष्टिगोचर हुई। आपके भोजन-सामग्री के लिए उसे पकड़ लिया। वह लंकाधिपति रावण था। हमारे कुल की, आपकी प्रशंसा करने लगा, पथ की याचना करने लगा तो धर्म पर विचार कर हमने उसे छोड़ दिया, इसी व्यवधान में समय निकल गया।" सम्पाति ने पूछा, "उसके पास क्या था?" सुपार्श्व ने बताया, उसके पास एक कन्या थी, प्रतीत होता था कि रावण उसका अपहरण कर ले जा रहा था। वह कभी हा राम! हा लक्ष्मण! हा दशरथनन्दन! जैसा कुछ कह रही थी।" सम्पाति ने सुपार्श्व की भर्त्सना कर कहा, "दुष्ट! दशरथ मेरे बालसखा हैं, अंतरंग मित्र हैं, उनकी पुत्रवधू का अपमान मेरा अपमान है। तूने सीता को मुक्त क्यों नहीं कराया, रावण को मार क्यों नहीं डाला? रावण को मेरे चरणों में ला गिराता तो मैं ही उसे मार डालता। जाओ, मुख काला कर मेरी दृष्टि से दूर हो जाओ।" उसने अपने पुत्र को भगा दिया।

विचारणीय है कि हाड़-माँस खाकर उदर-पोषण करनेवाले पक्षी के सम्बन्धी चक्रवर्ती सम्राट होते हैं? नहीं, यह गीध, नाग, रीछ, वानर, किन्नर इत्यादि आपके पूर्वजों के सम्बोधन थे। किन्नर हिजड़े नहीं थे, उन्हें कुमारियाँ होती थीं, जिनमें से कुछ को रावण ले गया था। सभी मनुष्य थे, महाबलशाली थे। सुपार्श्व ने रावण की गर्दन पकड़ उसे घसीट लिया। नीतिज्ञ रावण ने उससे लड़ना उचित नहीं समझा। बलाबल का अनुमान कर वह वृद्ध जटायु से लड़ गया। इस प्रकार भारतवर्ष में रावण का वश नहीं चल पा रहा था। रावण के सीमावर्ती क्षेत्रों में महान् बलशाली जातियाँ निवास कर रही थीं।

रावण के पार्श्ववर्ती दक्षिण भारतीय ये सभी नरेश चक्रवर्ती इक्ष्वाकुवंशीय सम्राट दशरथ और उनकी परम्परा के ही अन्तर्गत थे। यह ऐसे चक्रवर्ती नरेश थे कि अधीनस्थ राज्यों से कर भी नहीं लेते थे, संकट आ जाने पर वे संस्कृति की रक्षा मात्र करते थे, नरेशों को अभय प्रदान करते थे। जब राम ने बालि को मारा तो आहत बालि ने उपालम्भ दिया, ''राम! तुम तो धर्म की ध्वजा के संवाहक हो, आपसी युद्ध में उलझे मुझ निरपराध को तुमने क्यों मारा?'' राम ने समाधान किया, ''बालि! यह सम्पूर्ण पृथ्वी नरेशों की है, आज उस गद्दी पर भरत हैं, उनके राज्य में कहीं अशिष्ट व्यवहार होता है, मर्यादा भंग होती है, संस्कृति का ह्रास होता है तो रक्षा करना हमारा धर्म है। अनुज वधू, भगिनी, सुत-नारि और कन्या समान आदर के पात्र हैं। इन पर कोई कुदृष्टि डालता है कि हमारा कोई क्या कर लेगा, सांस्कृतिक मर्यादा भंग करता है- **'ताहि बधे कछु पाप न होई'** उसे मारने में कोई पाप नहीं है। हमने तो धर्म की रक्षा ही की है।''

अंगद को राम की शरण में सौंपकर बालि ने देहत्याग किया। राम ने सुग्रीव को वहाँ का राजा बना दिया और अंगद को युवराज नियुक्त किया। राम ने दक्षिण भारत का कुछ लिया ही नहीं।

रावण की योजना थी कि भारतीय नरेशों को वश में कर इनकी व्यवस्था ध्वस्त कर दूँगा, सबको असुर बना दूँगा। भारतीय नरेश पराक्रमी अवश्य थे किन्तु मदान्ध होकर भोग-विलास में अनुरक्त थे। बालि, हैहय नरेश, सम्पाति इत्यादि बलशाली होते हुए भी खा-पीकर मस्त थे। संस्कृति और जनरक्षा की ओर इनका ध्यान ही नहीं था। अवसर का लाभ उठाते हुए समुद्र पार से सूपनखा, खर-दूषण, त्रिशिरा, मारीच, ताड़का इत्यादि ने घुसपैठ कर आर्यावर्त में स्थान-स्थान पर अपनी चौकियाँ बना रखी थीं। जनता में दैवी गुणों और सद्-परम्पराओं का प्रसारण जिन ऋषियों से होता था, निशाचर उन्हें चट कर जाते थे; किन्तु बालि या हैहय नरेश ने उनकी रक्षा का कोई उपाय ही नहीं किया।

राक्षसों का शिकार बने ये ऋषि भी दक्षिण भारतीय ही थे। विन्ध्य पर्वत से दक्षिण का क्षेत्र दक्षिण भारत कहलाता है। राम को यहाँ विराध, ताड़का, सुबाहु, मारीच इत्यादि की चौकियाँ मिलीं। गाजीपुर के समीप देवताओं का बसाया करूष देश था। उसका विध्वंस कर ताड़का वहाँ राज्य कर रही थी। वह स्थान जनशून्य जंगल हो गया था। ताड़का व्यक्तियों पर नहीं जंगल पर राज्य कर रही थी। विश्वामित्र राम-लक्ष्मण को ले आये और उसका वध कराया।

वनवास-काल में राम विन्ध्य पर्वत से आगे बढ़े तो विराध सीता को लेकर चल पड़ा। सीता की ओर ही राक्षसों की दृष्टि थी। उसे समाप्त कर राम आगे बढ़े तो अस्थि-समूह दिखाई पड़ा। लोगों ने बताया-

निसिचर निकर सकल मुनि खाए। सुनि रघुनाथ नयन जल छाए।।
निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ-जाइ सुख दीन्ह।। (मानस, ३/९)

जहाँ-जहाँ निशाचरों के आक्रमण हो रहे थे, वहाँ-वहाँ राम ने निशाचरों का अन्त किया। ऋषियों को निशाचरों के आतंक से मुक्त किया।

इसी क्रम में राम पंचवटी पहुँचे। वहीं सूपनखा का आगमन हुआ। स्त्रियों का अपहरण करना, धन का अपहरण करना असुरों का स्वभाव था-

बाढ़े खल बहु चोर जुआरा। जे लंपट परधन परदारा।।
मानहिं मातु पिता नहिं देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा।।
जिन्ह के यह आचरन भवानी। जानहु ते निसिचर सब प्रानी।।

जिनके ऐसे आचरण हैं वे सब के सब निशाचर हैं। अपहरण करना असुरों की वृत्ति थी, धर्म नहीं था। धर्म तो एक है, जो शाश्वत है, सनातन है। एक परमात्मा, वही अपरिवर्तनशील है, काल से अतीत है। इस परमात्मा को हृदय में धारण करना धर्म है। असुर कोई धर्म नहीं है। असुर एक वृत्ति है। आसुरी वृत्ति में यह वैध था कि कहीं से भी नारियों का अपहरण कर ले आओ। जब असुरों की यह वृत्ति थी तो उनकी स्त्रियों की वृत्ति क्या होगी? सूपनखा विकल होकर रावण के पास पहुँची, ''तू भाई है कि शत्रु? तुमने हमारे पति विद्युत्जिह्वा को मार डाला। अब लोग मुझे विधवा कहेंगे।'' रावण ने कहा, ''बहन! युद्ध के नशे में मैं पहचान नहीं पाया, इसलिये वह मारा गया; किन्तु इसमें चिन्ता का कोई कारण नहीं है। हमारी जाति भी क्या कहीं विधवा-सधवा होती है? हम सहस्रों औरतें रखते हैं, तुम भी भाई खर-दूषण के साथ जाओ और जनस्थान में मनचाहा विचरण करो।'' खाओ-पीओ मौज करो, जिसे चाहो कुचल दो- यही आसुरी वृत्ति और परम्परा है।

सूपनखा स्वच्छन्द विचरण करती राम के पास आ गयी। छलपूर्वक सुन्दर वेश बनाकर बोली, **'मनु माना कछु तुम्हहि निहारी'-** आप बहुत सुन्दर हैं- ऐसी बात नहीं हैं। जन्म लिया है तो जीवन काटना ही पड़ेगा। अभी तक कुमारी रही हूँ, काम चल जायेगा। झूठ-सच बोलने लगी। उसने सीता पर आक्रमण कर दिया। लक्ष्मण ने समुद्र पार से आयी हुई उस राक्षसी का नाक-कान काट लिया। उसको तो मार ही

डालना चाहिए था फिर भी दया ही किया जो जीवित छोड़ दिया। असुरों की ही तरह असुर बालाओं की वृत्ति थी- **'भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखहिं नारी।।'** उनके पास कोई मर्यादा नहीं थी। सबमें केवल पुरुष-भाव से दृष्टिपात् करती थीं, चरित्र नाम की कोई वस्तु उनके पास नहीं थी। वह दक्षिण भारतीय नहीं थी, बल्कि दक्षिण भारत में घुसपैठ कर असुर अपनी संख्या बढ़ा रहे थे जिससे संख्या-बल पर वे पराक्रमी नरेशों को विवश कर सकें। भार्या सीता की शोध में वनवासी राम ऋष्यमूक पर्वत की उपत्यका में प्रविष्ट हुए। वहाँ मंत्रियों सहित सुग्रीव निवास कर रहे थे। सुग्रीव को बालि से प्राण-भय था, अतः उन्होंने अपने चतुर्दिक पहरा लगा रखा था कि बालि का कोई गुप्तचर उनकी हत्या न कर दे। यद्यपि पहरा लगा था फिर भी राम-लक्ष्मण को सबसे पहले सुग्रीव ने ही देखा; क्योंकि वह सदैव सतर्क रहता था। उसने हनुमान को निर्देश दिया, "शीघ्रता से जाओ। कोई खतरा हो तो संकेत कर देना, मैं भाग जाऊँगा। वह देखो, दो धनुर्धारी आ रहे हैं।"

विचार करें, सुग्रीव राजा रह चुके हैं, उनकी रक्षा में हनुमान-जैसे सेनापति हैं, जामवन्त-जैसे मंत्री हैं, कुछ सेना भी रही होगी; किन्तु वे इतने आतंकित थे कि दो धनुर्धर दिखायी पड़े तो भागने की तैयारी करने लगे। यह लोग रावण की बार-बार घुसपैठ से इतने सताये गये थे कि साहस और आत्मविश्वास खो बैठे थे। राम ने सुग्रीव से मैत्री की। सबको संगठित किया, सेतुबन्ध हुआ, सेना उस पार पहुँच गयी। युद्ध आरम्भ हो गया। युद्ध में गगनचुम्बी निशाचर कुम्भकर्ण को देखकर पूरी की पूरी वानरी सेना भाग खड़ी हुई। कुछ घबराहट में समुद्र में गिरकर मर गये, कुछ दलदल में समा गये, कुछ वृक्षों की झुरमुट में दुबक गये और अधिकांश उसी पुल का आश्रय लेकर इस पार चले आये। पूरी फौज भाग खड़ी हुई, केवल ५-७ लोग ही बचे। राम ने कहा, "विभीषण जी! लड़ना तो दूर की बात है केवल इसका रूप देखकर ही हमारी फौज भाग खड़ी हुई है। कौन है यह? यह कोई यन्त्र है या मनुष्य?"

विभीषण ने कहा, "प्रभु! यह मेरा अग्रज, रावण का अनुज कुम्भकर्ण है। वरदान से नहीं, बचपन से ही इसका ऐसा शरीर है और जैसा इसका आकार है वैसा ही पराक्रम भी है। यह चाहे तो एक ही दिन में सम्पूर्ण वानरी सेना को खाकर हजम कर सकता है। आपकी फौज तभी इसके समक्ष रुकेगी जब सबको समझाया जाय कि यह यंत्र है।" राम ने यह दायित्व अंगद को सौंपा। अंगद ने छलाँग लगायी और समुद्र के इस पार आ गये। **'अंगद कहइ जाउँ मैं पारा।'** एक छलाँग में समुद्रोल्लंघन

की क्षमता अंगद में थी। इधर वानरी सेना भी सेतु के इस मुहाने पर पहुँच गयी थी। दो-चार मिनट की भी देर होती तो बन्दर जंगलों में ओझल हो गये होते, उन्हें एकत्र करना भी एक समस्या होती। बन्दरों को इस झाड़ी से उस झाड़ी में, घाटी से उस चट्टान पर कहाँ-कहाँ ढूँढ़ते? किन्तु सेतु के मुहाने पर युवराज को पाकर बन्दर आश्वस्त हो गये।

अंगद ने कहा, ''शूरवीरो! हम उन आर्यों की सन्तान हैं जिन्होंने बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ लड़ीं, विजय प्राप्त किया या वीरगति पायी किन्तु कभी पीठ नहीं दिखायी। आज पीठ दिखाकर हम अनार्य कहे जायेंगे।'' कौन कहता है कि उत्तर भारतीय आर्य और दक्षिण भारतीय अनार्य हैं? दक्षिण भारत के राजा सुग्रीव, युवराज अंगद पुश्त-दर-पुश्त आर्य हैं। अंगद के उद्‌बोधन से सेना लौट पड़ी, युद्ध में प्रवृत्त हो गयी। अस्तु, वे इतने आतंकित और रावण द्वारा सताये हुए थे कि राम-लक्ष्मण को देख महाराजा भागने की तैयारी करने लगा और कुम्भकर्ण को देखा तो पूरी दक्षिण भारतीय फौज ही भाग खड़ी हुई। राम ने भयाक्रान्त इन लोगों में नवीन आशा, आत्म-विश्वास तथा अन्याय का प्रतिकार करने के साहस का संचार किया और रावण विजय के उपरान्त कृतज्ञताज्ञापन करते हुए इन सैनिकों को सन्देश दिया कि **'निज निज गृह अब तुम्ह सब जाहू। सुमिरेहु मोहि डरपहु जनि काहू।।' (मानस ६/११७/५)** भय का पाठ उन सबके जीवन से सदा-सदा के लिए समाप्त कर दिया।

निःसन्देह रावण पराक्रमी था; किन्तु वह दक्षिण भारतीय नहीं था। यह सारा का सारा भारत आर्यावर्त है, आर्यों की निवास-स्थली है। आर्य वह है जो अपने लक्ष्य से च्युत नहीं होता। जो अस्तित्व का उपासक है, आर्य है। मात्र आत्मा का ही अस्तित्व है। आत्मा ही अविनाशी परमतत्त्व, सनातन है, जो इस सत्य का अन्वेषी, इसके प्रति श्रद्धावान् है, आर्य है। इसे प्राप्त करने की गीतोक्त विधि का जो आचरण करता है वह आर्यव्रती है। जिसे प्रभु का दर्शन, स्पर्श और स्थिति प्राप्त है, वह आर्यत्व को प्राप्त है। आर्य एक साधना का नाम है, भगवत्पथ की एक टेक का नाम है, न कि जमीन का। आपका एक सगा भाई आर्य और दूसरा अनार्य भी हो सकता है। अरब में जन्म लेनेवाला भी आर्य हो सकता है और भारत में एक ब्राह्मण परिवार में जन्म लेकर भी कोई अनार्य हो सकता है। पूरा दक्षिण भारत विशुद्ध आर्य है, आर्यों की सन्तान है। विभीषण आर्य थे, रावण के पिता विश्रवा ऋषि आर्य थे। पुलह-पुलस्त्य का पूरा वंश ही आर्य था। उन्हीं में उत्पन्न रावण अनार्य था। उसके श्वसुर इत्यादि अनार्य थे। अनार्य का ही पर्याय था वैदिक शब्द 'दस्यु', असुर या

दानव जो पैशाचिक वृत्ति का आश्रय लेते हैं, और जो एक परमात्मा में श्रद्धावान् होकर उन्हीं पर निर्भर होकर जीवनयापन करते हैं आर्य हैं, देवता हैं।

आर्य पृथ्वी के टुकड़े का नाम कदापि नहीं है कि कहीं से आये या गये, जबकि द्रविड़ शब्द स्थानसूचक है। संस्कृत वाड्मय में है, **'अस्ति द्रविड़ेषु काञ्ची नाम नगरी'** द्रविड़ दक्षिण के घाट पर स्थित भू-भाग का नाम है। पंच द्रविड़ में द्रविड़, कर्णाट, गुर्जर, महाराष्ट्र और तैलंगाना के प्रदेश आते हैं। भारत के राष्ट्रगान में- **'पंजाब, सिन्ध, गुजरात, मराठा, द्राविड़, उत्कल, बंग। विन्ध्य, हिमाचल'**- इत्यादि भारत भूमि के विभिन्न खण्डों के नाम हैं। भागवत में भी भक्ति देवी ने **'उत्पन्ना द्रविड़े साहं'** (१/४८) कहकर इसकी स्थानवाचकता को ही इंगित किया है।

आर्य उत्तर भारत में ही रहते हैं यह कहना गलत है, द्रविड़ अनार्य हैं यह भी एक भ्रान्ति है। प्राचीन आर्षग्रन्थों में ऐसे प्रयोग नहीं हैं। महापुरुषों के नाम से प्रचारित कतिपय अर्वाचीन साहित्य में इन शब्दों के जातिवाचक प्रयोग निहित स्वार्थवश विदेशी शासकों की कूटनीति का एक अंग था। शास्त्रों का जिन्हें रंचमात्र भी ज्ञान है, इस भ्रान्ति में कभी नहीं आ सकते। महर्षि बाल्मीकि की वाणी, वेदव्यास की वाणी, उपनिषदों की सूक्तियाँ, भगवान् महाबीर, भगवान् बुद्ध की वाणी, गोस्वामी तुलसीदास जी का साहित्य- इन सब में आर्य एक साधना-पद्धति है और द्रविड़, अंग, बंग, पंजाब आदि विविध भू-भागों के सम्बोधन हैं।

यदि उत्तर भारत ही आर्यावर्त होता, इतने ही प्रदेश में आर्य रहते तो **'कृण्वन्तु विश्वमार्यम्'** विश्व को आर्य कैसे बनाते? ऋषियों का आह्वान है कि पूरे विश्व को आर्य बना लो। अन्धकार में पड़े अचेत जीवों को उठाओ। आसुरी सम्पद् अधोगति और नीच योनियों का कारण है। यह पुरुष जिसने मानव तन पाया है, देव दुर्लभ तन पाया है, नीच योनियों की ओर अग्रसर है, उसे कल्याण की राह दिखाओ, **'कृण्वन्तु विश्वमार्यम्'**- इसे उस अविनाशी तत्त्व परमात्मा का उपासक बना दो। आपके पूर्वजों का आमंत्रण विश्व ने हाथों-हाथ लिया। आर्य-संस्कृति सम्पूर्ण विश्व में फैलती चली गयी। आज भी अमेरिका-जैसे सुदूरवर्ती क्षेत्रों में शिव मन्दिरों के पुरातात्विक अवशेष मिल रहे हैं, इंका और माया सभ्यतायें मिल रही हैं। हिटलर अपने को आर्य कहता था, जर्मन अपने को आर्य कहते हैं। रूस की मूल विचार-धारा में आर्य ही था। पूर्वज विश्व को अपना भाई बना ले गये- **'वसुधैव कुटुम्बकम्'**। और आप अपने ही घर में ऊँच-नीच, छूत-अछूत, आर्य-द्रविड़ की

कृत्रिम दीवारों में सिकुड़ते सिमटते जा रहे हैं। यह तो ब्रिटिश शासकों की कुटिल नीति थी। उस समय भारत अशिक्षित था। भारतीयों की कमजोरी भाँपकर उन्होंने ही यह प्रश्न उछाला कि आर्य यहाँ से आये, वहाँ से आये, उत्तर भारत में रुके मूल भारतीयों को दक्षिण की ओर भगा दिया। उत्तर भारत से राम-लक्ष्मण आये और दक्षिण भारतीयों को लड़ा दिया। इस भ्रान्ति के उन्मूलन के लिये बच्चे-बच्चे को बोध कराना होगा कि आर्य क्या है?

सम्पूर्ण युद्ध में रामजी ने रावण, कुम्भकर्ण जैसे दो-तीन राक्षसों का वध किया, एक दो का वध लक्ष्मण ने किया। शेष अपार राक्षसी सेना का वध तो वानरों ने किया, दक्षिण भारतीयों ने किया; क्योंकि राम ने उनमें शौर्य जागृत कर दिया था। युद्ध की समाप्ति पर देवेन्द्र ने कहा, ''प्रभु! कोई आज्ञा?'' राम ने कहा, ''इन वानरों ने मेरा बड़ा साथ दिया है, इन्हें जीवन प्रदान करें।'' सुधा-वृष्टि हुई जिससे भालु-कपि जीवित हो उठे। निशाचर जीवित नहीं हो सके क्योंकि उन्हें प्रभु ने अपने में मिला लिया। इस प्रकार इस महान् संग्राम में दक्षिण भारत की एक चुहिया तक नहीं मरी। सभी भालु-कपि सकुशल जीवित लौटे।

राम ने दक्षिण भारत ही नहीं, उत्तर भारत से भी निशाचरों का सफाया किया। खर-दूषण, विराध, त्रिशिरा और ताड़का का अन्त वे पहले ही कर चुके थे। समुद्र रास्ता नहीं दे रहा था। राम ने शर-सन्धान किया, भयभीत समुद्र ने सेतुबन्ध का उपाय बताया। राम ने कहा, ''इस बाण का मैं क्या करूँ? यह अमोघ है, धनुष पर चढ़ जाने के बाद यह किसी का वध करके ही शान्त होता है। बताइए, किसका वध करूँ?'' समुद्र ने कहा, ''प्रभु! जो राक्षस आपके समक्ष आ गये उनका तो आपने वध कर दिया है किन्तु उनका जाल तो अभी भी फैला हुआ है **'एहि सर मम उत्तर तट वासी। हतहु नाथ खल नर अघरासी।।'**।'' दक्षिण समुद्र का उत्तर क्या होता है? हिमालयपर्यन्त सम्पूर्ण भारत और हिमालय के भी पार जो पापराशि खल हैं, रावण के अनुचर हैं, उनका वध करें। राम ने 'एवमस्तु' कहकर भारत में छिपे निशाचरों का अन्त किया और लंका जाकर उन सबका भी विनाश किया। एक तरह से राम ने विश्वभर में फैले निशाचरों के आतंक का उन्मूलन कर दिया; क्योंकि रावण ने एक-एक करके विश्व के हर कोने से राक्षसों को लंका बुला लिया था। पाताल लोक के निशाचर भी इस युद्ध में सम्मिलित हुए थे। ऐसी मान्यता है कि सूर्य की मध्याह्न किरणें पृथ्वी पर पड़ती हैं तो पाताल में अर्ध-रात्रि होती है। यह अंतर अमेरिका और भारत में आज भी है।

राम ने विजयोपरान्त विभीषण का अभिषेक किया, उससे लिया कुछ भी नहीं। लंका ध्वस्त हो गयी थी किन्तु सोने की लंका का कुछ भी नहीं बिगड़ा। सोने का कुछ बिगड़ता भी नहीं। लोगों ने पूर्ववत् निर्माण कर लिया। लंका फिर से तैयार हो गयी- **'जो सम्पति सिव रावनहिं, दीन्ह दिये दस माथ। सोइ सम्पदा विभीषनहिं, सकुचि दीन्हि रघुनाथ।।' (मानस, ५/४६)** राम ने यह सम्पत्ति संकुचित होकर दिया क्योंकि राम का काम सम्पत्ति देना नहीं, अभय पद देना है। लंका की सम्पत्ति राम की दृष्टि में कुछ थी ही नहीं। राम ने इस सम्पत्ति में से कुछ लिया ही नहीं। जब वह अयोध्या आये तो रीते हाथों ही आये। माता कैकेयी का आदेश भी था कि तपस्वी और विशेष उदासीन होकर रहना है। यदि रावण का दो-चार तोला सोना भी लेते तो कैकेयी बिगड़ खड़ी होती कि वहाँ व्यापार-धन्धा कर रहे थे क्या? वे जिस दशा में गये थे, उसी दशा में अयोध्या लौटे। खाली हाथ गये, खाली हाथ लौटे। सर्वप्रथम कैकेयी के पास जाकर मानो यह प्रमाणित कर दिया कि वैसे का वैसा ही लौटा हूँ। राम ने दक्षिण भारत की कायरता, बुज़दिली, फूट को समाप्त किया, उनका साम्राज्य उन्हें वापस सौंपकर सम्पूर्ण पृथ्वी को अकण्टक कर दिया, राक्षसी संस्कृति का अन्त कर दिया।

जब रामराज्य हुआ, **'बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई।। नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहि कोउ अबुध न लच्छन हीना।। (मानस, ७/१६-२०)** सभी प्रबुद्ध थे, दरिद्र कोई नहीं था। **'अल्पमृत्यु नहिं कवनिउ पीरा'-** स्वास्थ्य विभाग पूर्ण, धन-धान्य परिपूर्ण। **'राम भगति रत नर अरु नारी। सकल परम गति के अधिकारी।।' (मानस, ७/२०-४)** सभी एक परमात्मा के प्रति आस्थावान्, एक राम के प्रति समर्पित, दक्षिण भारत के लोग इससे अलग नहीं थे। पूरा भारत ही आर्यावर्त था। समुद्र पार से जो दुर्व्यवस्थायें आ रही थीं, समाप्त हो गयीं और आर्यावर्त ज्यों-का-त्यों सुरक्षित हो गया।

अवर्ण और सवर्ण की दरार भगवान् राम के जीवनकाल में नहीं थी। जीवनपर्यन्त राम ने अधम कहलानेवालों का ही उद्धार किया। केवट अधम, वानर-भालू अधम, कोल-किरात अधम, शबरी अधम, निशाचर अधम- राम ने अधमों को धार्मिक बना दिया। अधम का अर्थ है अधार्मिक, धर्म की व्याख्या से रहित, संस्कृति से रहित, राम ने उन सबको धार्मिक बना दिया। **'गीध अधम खग आमिष भोगी'** उसे वह गति दी जो योगियों को दुर्लभ है। उन्होंने अधम कहलाने वाले सबका उद्धार किया किन्तु एक भी ब्राह्मण को नहीं तारा। केवल महर्षि वशिष्ठ ने उनसे अनपायनी शक्ति की याचना की। अब जिन गुरु से शिक्षा-दीक्षा मिली थी,

राम उनसे एवमस्तु कैसे कहते? **'मौनं स्वीकार लक्षणम्'** मानें तो राम ने एक ब्राह्मण को अवश्य तारा। कौन कहता है कि रामायण सवर्णों की है?

वनवासकाल में दक्षिण भारतीय सन्त-महात्माओं ने राम का भरपूर सहयोग किया। महर्षि अगस्त्य ने कोदण्ड (धनुष) दिया जो वहीं जन्मे थे। समृद्ध तमिल भाषा उन्हीं महर्षि के हृदय की उपज है। अगस्त्य के ही दिये हुए बाण से रावण मारा गया। सुतीक्ष्ण जी ने भी राम को एक तलवार भेंट किया, वह भी दक्षिण भारतीय ही थे। तमिलों को तो गर्व करना चाहिए कि राम ने उनका उद्धार किया, सबको संगठित-सुव्यवस्थित किया और पूरे दक्षिण भारत में राक्षसों की जो चौकियाँ थीं, राम के नेतृत्व में दक्षिण भारतीयों ने ही उन सबका उन्मूलन कर शाश्वत जीवन की दिशा का अवदान प्रशस्त किया।

वस्तुतः भारत में ऐसी कोई जाति नहीं जो धर्म कहलाती हो। जातियाँ कुल-गोत्र की सम्मान-पत्र थीं; किन्तु धर्म तो एक परमात्मा को धारण करने की क्रिया है। जो एक अस्तित्व का उपासक है, आर्य है और जो प्रकृति के अन्धकार की ओर गतिशील है, अनार्य है। वही असुर भी है। मनुष्य मात्र के स्वभाव भी दो प्रकार के होते हैं- देवताओं-जैसे और असुरों-जैसे। परमदेव परमात्मा की जागृति, दर्शन, स्पर्श और स्थिति आर्यावर्त की आध्यात्मिक विधि है जिसका सांगोपांग विवरण रामायण, गीता, रामचरित मानस जैसे ग्रन्थों में यत्र-तत्र सर्वत्र है; किन्तु मूल शास्त्र गीता है। यह आदिदर्शन है, मनु महाराज को विरासत में मिली है, यह मूलतः संस्कृत में रही है। अब संस्कृत लोकभाषा नहीं रही। हिन्दी राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित है। भगवान् श्रीकृष्ण के आशय को ज्यों-का-त्यों समझने के लिये गीता की हिन्दी व्याख्या 'यथार्थ गीता' का अनुशीलन दो-तीन आवृत्तियों में अवश्य करें।

।। ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान् की जय।।

महाभारत की ऐतिहासिकता

महोदय,

आपके सौजन्य से श्री माधव जी गोविन्द जी वैद्य का 'यथार्थ गीता' विषयक वैदुष्यपूर्ण पत्र जो आपको ६-२-०६ को लिखा था, पढ़ा। प्रस्तावना, प्रथम तीन अध्याय तथा तेरहवें अध्याय का भाष्य अवधानपूर्वक पढ़कर कतिपय बिन्दुओं पर उन्होंने असहमति जताई है जिन पर आपने मार्गदर्शन की जिज्ञासा की है-

(१) विद्यमान महाभारत की रचना तीन अवस्थाओं में हुई। व्यास जी का लिखा जय नामक इतिहास केवल ६,००० श्लोकों का था। बाद में वही कथा जनमेजय के सर्प सत्र के अवसर पर कई दिनों तक वैशम्पायन ने बतायी तो २४,००० श्लोकों का ग्रन्थ बना। फिर शौनक के बारह वर्षों के सत्र में सौति ने उसी कथा को बताया तो करीब १ लाख श्लोकों का हो गया। एक लाख में केवल ७०० श्लोकों की गीता का एक छोटा-सा प्रकरण है। पूरे महाभारत का केवल ०.७ हिस्सा। किन्तु दो बातें पक्की रहीं-

(क) अर्जुन लड़ने के लिए आया। वह लड़ना नहीं चाहता था।

(ख) अन्त में वह लड़ा और विजयी रहा।

(२) अड़गड़ानन्द महाराज जी की व्याख्या सही मानें तो सारा महाभारत एक रूपक कथा (Allegory) बन जायेगा। मान्यता तो यह है कि वह एक इतिहास है। योग समझाने के लिए इतनी बड़ी कथा रचने का प्रयोजन नहीं हो सकता। उसके पात्रों के नाम ऐतिहासिक सदस्यों के नाम हैं। उनका यौगिक अर्थ निकालने से इतिहास खो जायेगा। गीता का मूलार्थ योग नहीं है।

(३) क्षेत्र शरीरवाचक शब्द है- ऐसा बताने के लिए महाराज जी को तेरहवें अध्याय में जाना पड़ा। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ की बात प्रमुख होती तो प्रारम्भ में ही उसका विवेचन होता।

(४) अर्जुन को अनुराग का प्रतीक मान भी लें; किन्तु भीष्म भ्रम कैसे? या भीम भाव कैसे? हृदयस्थ भाव के लिए वृकोदर संज्ञा उपयुक्त है क्या? द्रोण, अश्वत्थामा, विकर्ण, कर्ण, नकुल, सहदेव, काशीराज, शिखण्डी और इन सबके शंखों के नामों का विवेचन शब्दार्थ शास्त्र के विपरीत है।

(५) हृषीकेश में हृषीक शब्द का अर्थ इन्द्रिय (Sense organ) उसका स्वामी यानी उनको अपने स्वाधीन रखनेवाला। इस कारण भगवान् श्रीकृष्ण को हृषीकेश कहा गया है। महाराज जी ने हृषीक का अर्थ हृदय बताया है। संस्कृत भाषा को थोड़ा बहुत जाननेवाला भी इसे मान्य नहीं करेगा।

(६) 'कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्मा सनातनाः'- इसमें सनातन कुलधर्म का विशेषण है। वह Predicate नहीं है। कुलधर्म का अर्थ सनातन धर्म नहीं है।

(७) 'कौमारं यौवनं जरा'- देह की अवस्था है देही की नहीं। देहधारी जीवात्मा की ये अवस्थायें नहीं हैं।

(८) श्रीमद्भगवद्गीता का तात्पर्य कर्मयोग है। भगवान् ने कर्म का वह कौशल बताया जिससे कर्म का बन्धन या पाप, कर्म करनेवाले को नहीं लगता। सर्व कर्म करने चाहिए आस्थापूर्वक किन्तु अनासक्त होकर। ध्यान धारणा की बातें अच्छी हैं किन्तु गीता का वह तात्पर्य नहीं है।

सर्वप्रथम इसी आक्षेप को लेते हैं जो महाभारत एवं गीता के अस्तित्व पर ही प्रश्नचिन्ह है कि महाभारत का विद्यमान कलेवर कई संस्करणों में परिवर्द्धित हुआ है जिससे ध्वनित होता है कि 'इसमें मूल जय काव्य कितना है' यह निश्चय कर पाना कठिन है। विदेशियों द्वारा प्रचारित तथा अज्ञानतावश भारतीयों द्वारा अनुसमर्थित यह दुरभिसन्धिपूर्ण आक्षेप भारतीयता के पुरोधा और राष्ट्रीयता के ध्वजवाह वैद्य जी की ओर से आया, चिन्ताजनक है। महाभारत के ही अन्तर्साक्ष्यों से स्पष्ट है कि विद्यमान एक लाख श्लोकों वाला ग्रन्थ ही महाभारत है, वही भारत था अैर उसी का नाम 'जय' भी था।

अनुक्रमणिका पर्व में हैं-

कृष्णद्वैपायन प्रोक्ताः सुपुण्या विविधाः कथाः।।
कथिताश्चापि विधिवद् या वैशम्पायनेन वै।
श्रुत्वाहं ता विचित्रार्था महाभारत संश्रिताः।। (महा.अनु. १/११)

नैमिषारण्य में कुलपति शौनक जी के द्वादशवर्षीय यज्ञ में सौति उग्रश्रवा जी ने बताया कि परीक्षितनन्दन जनमेजय के सर्पसत्र में वैशम्पायन जी ने कृष्ण द्वैपायन व्यास द्वारा कही गई विचित्र अर्थों से युक्त महाभारत की जो कथायें कही हैं, उन्हें मैं सुनकर आ रहा हूँ।

इसी पर्व के अग्रेतर पंक्तियों में है कि धृतराष्ट्र इत्यादि के परमगति को प्राप्त होने के अनन्तर व्यास जी ने पहले महाभारत बनाकर मनुष्य लोक में प्रकट किया। सर्पसत्र में जनमेजय तथा सहस्रों ब्राह्मणों के प्रश्न करने पर अपने शिष्य वैशम्पायन को महाभारत सुनाने का उन्होंने आदेश दिया और वैशम्पायन ने व्यास के मुख से सुनी हुई कथा को जनमेजय को सुनाया और उसी को सौति ने शौनक को सुनाया।

इदं शत सहस्रं तु श्लोकानां पुण्य कर्मणाम्।।१०१।।
उपाख्यानैः सह ज्ञेयमाद्यं भारतमुत्तमम्।
चतुर्विंशति साहस्रं चक्रे भारतसंहिताम्।।१०२।।
उपाख्यानैर्विना तावद भारतं प्रोच्यते बुधै।
ततोऽप्यर्धशतं भूयः संक्षेपं कृतवानृषिः।।१०३।।
अनुक्रमणिकाध्यायं वृत्तान्तं सर्वपर्वणाम्।
इदं द्वैपायनः पूर्वं पुत्रमध्यापयच्छुकम्।।१०४।।
ततोऽन्येभ्योऽनुरूपेभ्यः शिष्येभ्यः प्रददौविभुः।
षष्टिंशत सहस्राणि चकारान्यां च संहिताम्।।१०५।।
त्रिंशच्छतसहस्रं च देवलोके प्रतिष्ठितम्।
पित्र्ये पञ्चदशं प्रोक्तं गन्धर्वेषु चतुर्दशः।।१०६।।
एकं शत सहस्रं तु मानुषेषु प्रतिष्ठितम्।
नारदोऽश्रावयद् देवानसितो देवलः पितॄन्।।१०७।।
गन्धर्व यक्ष रक्षांसि श्रावयामासवै शुकः।
अस्मिंस्तु मानुषे लोके वैशम्यायन उक्तवान।।
शिष्यो व्यासस्य धर्मात्मा सर्ववेदविदां वरः।
एक शतसहस्रं तु मयोक्तं वै निबोधत।।

लोमहर्षण जी के सुयोग्य पुत्र सौति उग्रश्रवा जी कहते हैं कि पुण्यकर्म करनेवाले लोगों के आख्यानों सहित एक लाख श्लोकों का आदि भारत है। उपाख्यानों से रहित २४,००० श्लोकों वाला वही भारत है। इसके बाद पुनः संक्षेप करके डेढ़ सौ श्लोकों और पर्वों के वृत्तान्तों की एक अनुक्रमणिका रची।

कृष्ण द्वैपायन ने महाभारत पहले अपने पुत्र शुक को पढ़ाया। इसके बाद समर्थ ऋषि ने अन्य योग्य शिष्यों को प्रदान किया। तत्पश्चात् महर्षि व्यास ने साठ लाख श्लोकों की दूसरी भारत संहिता रची। उसमें से तीस लाख श्लोक देवलोक में प्रतिष्ठित हैं। नारद जी ने देवलोक में उन्हें सुनाया। असित, देवल ने पितरों को एक लाख श्लोक सुनाया। शुकदेव ने उसी में से चौदह लक्ष श्लोक गन्धर्व और यक्षों को सुनाया। मनुष्य लोक में एक लाख श्लोक वैशम्पायन ने सुनाया। वैशम्पायनोक्त उन्हीं एक लाख श्लोकों को मैं कह रहा हूँ। आप लोग उसे धारण करें।

इन सबका आशय मात्र इतना है कि भरतवंशीय लोगों के इतिवृत्त के रूप में व्यास जी ने चौबीस हजार श्लोकों वाले जयकाव्य या भारत की संकल्पना (रूपरेखा)

की। तत्पश्चात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष प्रदायी आख्यान जोड़ने से वह एक लाख श्लोकों वाला महाभारत हुआ। उसी में डेढ़ सौ श्लोकों वाली अनुक्रमणिका एक अध्याय के रूप में है। महाभारत से भिन्न अन्य महाभारत जय या भारत नामक ग्रन्थ का कहीं अस्तित्व नहीं मिलता। अस्तु यह कथन कि इसका कलेवर समय-समय पर बढ़ाया गया, भ्रमपूर्ण है। वैसे, महाभारत में प्रक्षेप होने से इनकार नहीं किया जा सकता है, फिर आप भी तो महाभारत को लक्ष श्लोकों का ही मानते हैं तभी तो आपने लिखा है कि गीता एक लाख में ७०० श्लोकों का एक छोटा-सा प्रकरण है। ०.७ प्रतिशत हिस्सा अर्थात् महाभारत के एक लाख श्लोक आपको भी मान्य हैं।

'इतने बड़े ग्रन्थ में गीता एक छोटा-सा प्रकरण है- पूरे महाभारत का ०.७ प्रतिशत हिस्सा।' इससे गीता का महत्व कम नहीं हो जाता। यह महाभारत का निचोड़ है। स्वयं महाभारतकार के शब्दों में-

भारतामृत सर्वस्य गीताया मथितस्य च।
सारमुदधृत्य कृष्णेन अर्जुनस्य मुखे हुतम्।। (महा.भीष्म. ४३/५)

'भारत' रूपी अमृत का मंथन कर उसका सार-सर्वस्व गीता निकालकर कृष्ण ने अर्जुन के मुख में डाल दिया है।

महाभारत धृतराष्ट्र के परमधाम गमन के पश्चात् युधिष्ठिर के राज्यकाल में लिखा गया जबकि गीता का प्रादुर्भाव युद्ध के पहले दिन ही हो गया था। गीता तो महाभारत के पहले का इतिहास है, जिसे महाभारत के विशाल इतिहास में भी अनदेखा नहीं किया जा सकता।

अब दूसरे बिन्दु पर आते हैं कि स्वामी जी की व्याख्या मानने से, पात्रों का रूपक देने से सारा महाभारत रूपक या कल्पना बनकर रह जायेगा, हमारा इतिहास खो जायेगा। गर्व की बात है आज आपको अपना इतिहास याद तो आया। निःसन्देह महाभारत इतिहास है, किन्तु आप इसे कब का भूल चुके हैं। महाभारत शौर्य, पराक्रम, पीठ न दिखाना सिखाता है, भागना नहीं सिखाता; किन्तु आज का सारा भारत भगोड़ा है। कहीं साम्प्रदायिक दंगा होता है तो तथाकथित बहुसंख्यक हिन्दुओं को कहीं छिपने या भागने की गली नहीं मिलती, क्या यह महाभारत ने सिखाया है? क्या यह इतिहास का प्रभाव है? इतिहास साक्षी है कि मात्र दस-पन्द्रह हजार आक्रमणकारी अरब से आये। तीन-तीन और कभी पाँच-पाँच लाख हिन्दुओं को उन्हीं की रस्सियों से बाँधकर हाँककर ले गये, बगदाद और अन्य शहरों में दो-दो रुपये में बेच दिये। कभी-कभी तो एक दीनार में ५-५ हिन्दू बेचे गये। लाख-लाख

हिन्दू बन्दी काट डाले गये, उनके सिरों की मीनारें बनायी गयीं। वे निहत्थे भी टूट पड़ते तो इतिहास कुछ दूसरा ही होता। यह बुज़दिली, यह कायरता कहाँ से आयी? 'यथार्थ गीता' तो आज की लिखी है, इतिहास तो आपके पूर्वजों ने कब का नकार दिया है।

धर्मगुरुओं ने कहा, महाभारत मत पढ़ना अन्यथा आपके घर में महाभारत हो जायगा। इतना विशाल साहित्य, अध्ययन करने में वर्षों तो लग ही जायेंगे। इस बीच कोई दुर्घटना घटित होना स्वाभाविक है। इसका श्रेय लोग महाभारत को देने लगे। महाभारत-कथा और उसके पाठ की परम्परा ही लुप्त हो गई। जिस महाभारत को वेदों का भी वेद, पंचमवेद माना जाता था, जो इसमें नहीं है वह कहीं नहीं है- इतने मूल्यवान् ग्रन्थ पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। क्योंकि महाभारत के प्रचलन में रहते कुरीतियाँ नहीं फैलायी जा सकती थीं, जो परवर्ती व्यवस्थाकारों की सुनियोजित योजना थी। शिक्षा को एक वर्ग तक सीमित रखकर उन्होंने स्वार्थमयी व्यवस्थाओं को धर्म कहकर प्रसारित कर दिया। अंगूठा छाप श्रद्धालु जनता का भयादोहन होने लगा। यह महाभारत-विस्मृति का परिणाम था।

महाभारत पूर्वजों की शौर्य-गाथा है। समुद्र पार के निवात कवचों से अर्जुन युद्ध करने गये, विजय प्राप्त की और लौट आये; किन्तु आपकी स्मृतियाँ कहती हैं कि समुद्र पार जाने से आपके सनातन धर्म का लोप हो जायेगा। सीता जी समुद्र पार गयीं, उनकी तो आप पूजा करते हैं, श्रीराम के वाम भाग में बिठाते हैं- **'सीतासमारोपित वामभागम्।'** हनुमान समुद्र पार गये, आये, पूरी फौज गयी-आयी। अब इस समुद्र पार करने, न करने से धर्म का क्या सम्बन्ध? शरीर नष्ट हो सकता है। समुद्र पार होने से धर्म कैसे नष्ट होगा? शाश्वत कैसे नष्ट होने लगा? अविनाशी का विनाश? क्या यह अन्धविश्वास इतिहास की देन है?

महाभारत के मध्य देदीप्यमान गीता का सन्देश है, **'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।'** गीता कहती है कि शरीर एक वस्त्र है, इसमें परिवर्तन होता है, यह मरता नहीं। अभिमन्यु के वीरगति पाने पर आँसू बहाती हुई पाण्डव-सेना धीरे-धीरे पीछे हटने लगी तो धर्मराज युधिष्ठिर फौज के मुहाने पर आकर खड़े हो गये। उन्होंने कहा, ''शूरवीरो! अभिमन्यु के लिये शोक न करो। उसने दसियों हजार मुकुटधारी महारथी राजकुमारों का वध कर महान् पुण्य कमाया है, वह सनातन लोक को गया है।'' आज के व्यवस्थाकार कहते हैं चींटी मत मारो। शूद्र मारने पर दस गाय दान दो। झाड़ू लगाया तो पाप हो गया। जंगल में भी कदाचित्

हमसे कोई जीव-जन्तु मर गये तो आकर उसे बतायें और मृत्युकर दें, नहीं बतायेंगे तो रौरव नरक जायेंगे। हर जीव की मृत्यु में भारतीय नागरिक को अपना नरक दिखाई दे रहा है। महाभारत तो था; किन्तु उस पर प्रतिबन्ध आज नहीं, कब का लग चुका था। महापुरुषों ने महाभारत से गीता निकालकर स्वतंत्र ग्रन्थ की मान्यता दी। भगवान् ने कहा, **'इति गुह्यतमं शास्त्रं' (गीता, १५/२०)**- गोपनीय से भी गोपनीय शास्त्र; **'ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते' (गीता, १२/२०)**- इस धर्ममय अमृत का यथोक्त पान करता है वह योगियों में भी अति उत्तम योगी मुझे प्रिय है, तो उस पर भी व्यवस्थाकारों ने प्रतिबन्ध लगा दिया कि गीता घर में न रखें, अन्यथा इसे पढ़कर आपके बच्चे संन्यासी हो जायेंगे, आप पुत्रहीन हो जायेंगे। इस गौरवशाली ग्रन्थों के स्थान पर सैकड़ों स्मृतियाँ प्रवर्तन में आ गयीं। यह बुज़दिली, कायरता और भगोड़ापन इन्हीं नवीन व्यवस्थाकारों की देन है, 'यथार्थ गीता' की नहीं। योगपरक 'यथार्थ गीता' भाष्य से इतिहास खो नहीं जायेगा, इतिहास तो पता नहीं आप कब से खो बैठे हैं। इतिहास ही होता तो पीठ क्यों दिखाते? यह भारत गुलाम क्यों हुआ? प्रसन्नता है, इतिहास याद तो आया।

निःसन्देह महाभारत गौरवशाली इतिहास है जिसमें सृष्टि के आरम्भ से लेकर द्वापर तक के भरतवंशियों का विवरण है जिसमें खान-पान, रहन-सहन, मित्रता-शत्रुता, युद्ध-कौशल, अस्त्र-शस्त्रों का आविष्कार, राजनीति, लोकनीति, भेदनीति, माता-पिता, पति-पत्नी, भाई और मित्र के प्रति सद्-व्यवहार, कृषि, उद्योग, व्यापार इत्यादि सब कुछ विद्यमान है। प्रत्येक कार्य ईश्वर के स्मरण के साथ आरम्भ करना तथा ईश्वर के स्मरण के साथ सम्पन्न करना भारतीय संस्कृति है। भगवान् को भुलाकर केवल कार्य करना कृति है। महाभारत संस्कृति शास्त्र है; किन्तु इससे भी प्राचीन भारतीयों का मूल इतिहास योग है।

भगवान् आदि मनु से संसार की उत्पत्ति है। मनु से जायमान होने के कारण हम-आप मनुज कहलाते हैं। मनु महाराज को अपने पिता सूर्य से गीता विरासत में मिली थी। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, "अर्जुन! इस अविनाशी योग को मैंने कल्प के आदि में सूर्य से कहा था। सूर्य ने अपने पुत्र आदिमनु से कहा।" मनु को विरासत में मिला, इसीलिए आपका आदि इतिहास योग है, जिसका क्रमबद्ध प्रस्तुतीकरण गीता है। इसी को मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु से कहा था। उस युग में लेखन की कल्पना भी नहीं थी। कही-सुनी वस्तु याददाश्त में ही धारण की जाती है। याददाश्त का ही नाम स्मृति है। महाराज मनु ने स्मृति की परम्परा दी। उनसे क्रमशः राजर्षियों ने इसे

जाना। इस महत्वपूर्णकाल से यह ज्ञान लुप्त हो चला था किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण ने बताया कि वही पुरातन योग मैं तेरे प्रति कहने जा रहा हूँ, क्योंकि तुम मेरे प्रिय सखा हो, अनन्य भक्त हो। अस्तु, गीता वही मनुस्मृति है।

योगेश्वर ने यह ज्ञान उस समय कहा जब महाभारत के रणस्थल में दोनों सेनायें आमने-सामने खड़ी थीं- **'प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते'**- शस्त्र चलाने के लिये उद्यत थीं, उस समय कहा। सेनायें स्तब्ध खड़ी थीं, सुना किसी ने नहीं, केवल अर्जुन ने सुना। भगवान् ने कहा, ''इसे केवल अधिकारी के प्रति कहना चाहिये।'' अर्जुन अधिकारी था।

भीषण संग्राम के मुहाने पर ही भगवान् ने इस शास्त्र को क्यों कहा? भगवान् भली प्रकार जानते थे कि अरबों-खरबों लोगों का रक्त बहाकर जो विजेता होगा वह भी असफल मनोरथ हतप्रभ ही होगा, चैन से नहीं रह पायेगा, शान्ति-लाभ नहीं कर पायेगा, तब उन्होंने वास्तविक युद्ध जिसमें सदा रहनेवाला जीवन, सदा रहनेवाली समृद्धि और शान्ति प्रदाता युद्ध का सूत्रपात् ठीक इसी मुहाने पर किया कि विजय के पश्चात् हताश होने पर यह समझ में आयेगा। ठोकर खाने पर मनुष्य सँभलता है, तभी वह वैराग्योन्मुख हो पाता है। राजा भर्तृहरि को अपनी प्राण-प्रिय महारानी में दोष प्रतीत हुआ तभी उनका गृह-त्याग हो पाया।

महाभारत के रणांगन में युधिष्ठिर जीत तो गये किन्तु खोये-खोये से रहते थे। वह रात-दिन चिन्तित रहते, कभी कर्ण के लिये तो कभी भाइयों के लिए। उस गद्दी पर बैठकर उन्होंने क्या पाया? तब तक सुनायी पड़ा यदुवंशी आपस में लड़कर खेत रहे और भगवान् ने भी धराधाम का परित्याग कर दिया। ऐसी चोट लगी कि सिंहासन, हार-जीत की नश्वरता दृष्टि-पटल पर स्पष्ट रूप से कौंध गयी। वह तत्काल उठकर खड़े हो गये, सिंहासन का परित्याग कर दिया और उसी राह पर चल पड़े जो गीता की राह थी।

इसलिये हमारा मूल इतिहास योग है। भारतीयों की मूल पहचान आध्यात्मिकता है। सृष्टि के आरम्भ से लेकर द्वापर तक का विवरण शेष महाभारत है। युद्ध जो हुआ (गीतोपदेश के उपरान्त) वह महाभारत कथा है। क्षत्रियों का महासंग्राम हुआ; किन्तु गीता हमारा यौगिक इतिहास है। यहीं से हमारा इतिहास आरम्भ होता है। भारतीयों का रहन-सहन, खान-पान, युद्धकौशल, शौर्य-पराक्रम सब कुछ महाभारत में है। उसमें भारतीयों का यौगिक उत्कर्ष कैसा था- इसका रेखांकन गीता है। इस इतिहास गीता को महाभारत के मध्य में रखा कि सृष्टि का विजेता होने पर परिणाम

में हार ही है। गीता की विजय सदा रहनेवाली शान्ति प्रदायिनी योग-दर्शन की उपलब्धि है। इसमें मात्र ७०० श्लोक हैं जो आरम्भ में भी उतने ही थे और आज भी उतने ही हैं। शेष लक्षश्लोकात्मक महाभारत ज्यों-का-त्यों सुरक्षित है।

पात्रों का रूपक बताने या दृष्टान्त प्रस्तुत करने से घटनायें कल्पित नहीं हो जाती हैं। प्रत्येक महापुरुष के प्रस्तुतीकरण की अपनी शैली होती है। किसी घटित घटना को उदाहरण के रूप में लेकर मनोगत अमूर्त भावों तथा हृदय-देश के पात्रों का चित्रण किया जाता है। हृदय-देश की यौगिक साधना को समझाने की यही प्रणाली रही है। गोस्वामी तुलसीदास जी की रामचरित मानस में है-

राम नाम नरकेसरी, कनककसिपु कलिकाल।
जापक जन प्रहलाद जिमि, पालिहि दलि सुरसाल।। (१/२७)

रामनाम नृसिंह भगवान् है, हिरण्यकशिपु कलिकाल है। हिरण्यकशिपु सतयुग में हुआ था, वहाँ कलि था ही नहीं। हिरण्यकशिपु का शब्दकोशीय अर्थ संस्कृत वाङ्मय में कलिकाल होता ही नहीं। अब यह कहें कि हिरण्यकशिपु को कलिकाल क्यों कह दिया? यह प्रतीकात्मक है। यहाँ अभिधा नहीं, व्यंजना-प्रधान है। इसी तरह,

रामकथा मंदाकिनी, चित्रकूट चित चारु।
तुलसी सुभग सनेह बन, सिय रघुबीर बिहारु।। (१/३१)

कूटस्थ चित्त ही चित्रकूट है, राम-कथा ही मन्दाकिनी है तो क्या मन्दाकिनी खो गई? चित्रकूट नहीं रहा? इतिहास खो गया? **'वपुष ब्रह्माण्ड सुप्रवृत्ति लंका' (विनय पत्रिका, ५८)** शरीर सुव्यवस्थित ब्रह्माण्ड है और उसमें अनुरक्ति लंका है, तो क्या लंका का इतिहास खो गया। महापुरुषों के समझाने की यह विधा रही है। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी कहा, **'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्'** संसार सागर है तो क्या वह कोई जलाशय है? यह शैली है। इन प्रतीकों के माध्यम से क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का संघर्ष समझाया गया है। इसमें इतिहास खोने या घटनाओं के कल्पित हो जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। यहाँ उनका शब्दकोशीय अर्थ ढूँढ़ने का भी कोई औचित्य नहीं रह जाता।

द्वितीय बिन्दु के साथ ही चतुर्थ बिन्दु का स्पष्टीकरण हो जाने के कारण असहमति के तृतीय बिन्दु पर आते हैं जिसमें उन्हें आपत्ति है कि क्षेत्र को स्पष्ट करने के लिए स्वामी जी प्रथम अध्याय से तेरहवें अध्याय में क्यों चले गये? यह तो योगेश्वर की शैली है कि शब्द को वे पहले परिभाषित नहीं करते। पहले वे उसका नामोल्लेख करते हैं, उसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालते हैं, और अन्त में उस शब्द की व्याख्या देते हैं, उसे परिभाषित करते हैं। उदाहरणार्थ, अध्याय ४ में उन्होंने

तत्त्वदर्शी शब्द का उल्लेख किया किन्तु वहाँ यह नहीं बताया कि तत्त्वदर्शन क्या है? यह प्रकरण उन्होंने १८वें अध्याय में लिया। यही बात क्षेत्र की भी है। प्रथम अध्याय में उसका नाम लिया और प्रसंग आने पर अध्याय तेरह में उसे स्पष्ट किया।

एक दूसरा उदाहरण लें। अध्याय २/३६ में उन्होंने कर्म का नाम लिया कि अब इस बुद्धि को कर्मयोग के विषय में सुन, जिससे युक्त होकर तू कर्म-बन्धन को भली प्रकार काट सकेगा। यहाँ उन्होंने यह नहीं बताया कि कर्म क्या है? पहले वह कर्मयोग की विशेषता बताते हैं कि इसमें आरम्भ का नाश नहीं है, सीमित फलरूपी दोष नहीं है, **'स्वल्पमपस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्'**- इस धर्म का स्वल्प अभ्यास भी जन्म-मृत्यु के भय से उद्धार करनेवाला होता है। इसमें निश्चयात्मक क्रिया एक है, बुद्धि एक है। तब तो जो बहुत-सी क्रियायें करते हैं क्या वे भजन नहीं करते? साधना नहीं जानते? भगवान् कहते हैं, अविवेकियों की बुद्धि अनन्त शाखाओंवाली होती है इसलिये वे अनन्त क्रियायें गढ़ लेते हैं। **'स्वर्गपरा'**- स्वर्ग ही सर्वोपरि है- यह उनकी मान्यता है। **'वेदवादरताः'**- वेद के वाद-विवाद में वे अनुरक्त रहते हैं। वे अनन्त फल आवागमन को प्राप्त होते हैं। वे अनन्त क्रियायें ही नहीं रचते अपितु दिखावटी शोभायुक्त वाणी में उसे व्यक्त भी करते हैं। उनके मधुरवाणी की छाप जिन-जिन के चित्त पर पड़ जाती है उनकी भी बुद्धि नष्ट हो जाती है, न कि वे कुछ पाते हैं और मैं जो कर्म बताने जा रहा हूँ उसे करके तुम संसार-बन्धन से भली प्रकार मुक्त हो जाओगे।

इस प्रकार अध्याय दो में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कर्म का नाम लिया, कर्म की विशेषताओं पर प्रकाश डाला। कर्म करते समय बरती जानेवाली सावधानियों पर बल दिया कि कर्म करने में ही तेरा अधिकार है फल में नहीं। फल की वासनावाला न हो। कर्म करने में तुम्हारी अश्रद्धा भी न हो, समर्पण के साथ कर्म में प्रवृत्त भर रहो- इन सावधानियों पर बल दिया किन्तु यह नहीं बताया कि कर्म क्या है।

अध्याय ३/९ में उन्होंने कहा, **'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः'**- अर्जुन! यज्ञ को चरितार्थ करना कर्म है। **'नियतं कुरु कर्म त्वं'** (३/८) कर्म की एक निर्धारित विधि है। अध्याय ४ में उन्होंने कहा, **'एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे। कर्मजान्विद्धि तां सर्वाणि एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।।'** (४/३२) श्वास-प्रश्वास का यजन यज्ञ है, इन्द्रियों के बहिर्मुखी प्रवाह का संयमाग्नि में हवन यज्ञ है। योगाग्नि-ज्ञानाग्नि में हवन यज्ञ है। यज्ञ के परिणाम में अमृत का भोजन, सनातन ब्रह्म में स्थिति है। यह यज्ञ जिस-जिस उपाय से सम्पन्न होता है, उस-उस उपाय का

नाम कर्म है। यहाँ आकर एक प्रश्न कर्म स्पष्ट हुआ। इसके अनन्तर भी कर्म की चर्चा है। अध्याय सात में बताया कि इस पुण्य कर्म को करनेवाले सम्पूर्ण ब्रह्म को जानते हैं, सम्पूर्ण अध्यात्म को जानते हैं- सम्पूर्ण अधिदैव, सम्पूर्ण कर्म, सम्पूर्ण अधियज्ञ सहित मुझे जानते हैं।

इसी तरह अध्याय दो में उन्होंने एक वर्ण क्षत्रिय का नाम लिया कि क्षत्रिय के लिये युद्ध से बढ़कर कुछ भी नहीं है (२/३१)। अध्याय ४/१३ में भगवान् ने कहा, **'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।'**- चार वर्णों की संरचना मैंने की। चार भागों में क्या बाँटा गया? भगवान् कहते है कि गुणों के माध्यम से कर्म को चार भागों में बाँटा। वितरण की गई सामग्री थी कर्म। कर्म समझ में आयेगा तो बँटवारा भी समझ में आ जायगा। भगवान् ने अग्रेतर १८वें अध्याय में इस प्रश्न को पूर्ण किया कि वर्ण क्या है? भगवान् ने क्रमशः इसे पूर्ण किया।

योगेश्वर ने अध्याय ३/९ में पहली बार यज्ञ का नाम लिया- **'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।'** किन्तु यह नहीं बताया कि यज्ञ क्या है? पहले उन्होंने बताया कि यज्ञ आया कहाँ से? विधाता ने यज्ञसहित प्रजा को रचकर कहा कि इससे देवताओं की उन्नति होगी, वे तुम्हारी उन्नति करेंगे। इस प्रकार परस्पर उन्नति करते हुए परमश्रेय को प्राप्त करें। **'तैर्दत्तान्'**- वही प्रदाता हैं, यही प्राप्ति का तरीका है। इनका उत्कर्ष किये बिना जो कहता है कि मैंने पाया है, वह निश्चय ही चोर है, मुँह छिपानेवाला है; लेकिन यह नहीं बताया कि यज्ञ क्या है? अध्याय चार में उन्होंने विधिवत् यज्ञ बताया। प्राप्तिवाले महापुरुषों का यज्ञ ब्रह्मार्पणं ब्रह्माग्नि, संयमाग्नि, शब्दाग्नि, योगाग्नि, प्राणायाम क्रमशः बताया और अध्याय १७ में स्पष्ट किया यह यज्ञ शास्त्र-विधि से निश्चित है, मन का निरोध करनेवाला है, उसे करना ही कर्त्तव्य है, यह समर्पण के साथ किया जाता है। वहाँ जाकर यह निर्णय मिलता है कि यज्ञ कोई ऐसी विधा है जो मन का निरोध करता है, यज्ञ कोई ऐसी विधा है जो आपको अमृत का भोजन प्रदान करता है, यज्ञ कोई ऐसी विधा है जो सनातन ब्रह्म में स्थिति दिलाता है। इसी शैली में अध्याय १ में **'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे'** से उन्होंने गीता की प्रस्तावना दी कि धर्म एक क्षेत्र और कुरु एक क्षेत्र है। क्रमशः अध्याय तेरह में उन्होंने विस्तरशः क्षेत्र स्पष्ट किया। विषय-वस्तु का सिंहावलोकन करने के लिये भाष्य में प्रथम श्लोक की व्याख्या के अवसर पर ही संकेत दिया गया है, इसे अन्यथा न लें।

असहमति का चतुर्थ स्थल है कि हृषीक का अर्थ इन्द्रिय होता है, स्वामी जी ने हृदय कैसे कह दिया। हृषीकेश अर्थात् इन्द्रियों को स्वाधीन रखनेवाला। भगवान्

हृषीकेश हैं। वस्तुतः यहाँ असहमति जैसी कोई बात ही नहीं है। आपका भाव इस शब्द की व्याख्या में 'यथार्थ गीता' में सुरक्षित है (देखें पृष्ठ १०)। प्रतीत होता है वे इस स्थल को अनदेखा कर गये। भगवान् श्रीकृष्ण सद्गुरु हैं। पृष्ठ दस पर प्रथम अध्याय के पन्द्रहवें श्लोक के भाष्य में है, ''इन्द्रियों को समेटकर उन्हें अपने सेवक की श्रेणी में खड़ा कर देना हृदय से प्रेरक सद्गुरु की देन है।'' इन्द्रियों को स्वाधीन करना अथवा उन्हें समेटकर अपने सेवक की श्रेणी में खड़ा कर देना एक ही बात है। वहाँ इन्द्रिय शब्द का प्रयोग है।

अब इस पर भी विचार कर लेते हैं कि इन्द्रियों के स्थान पर हृदय का प्रयोग ही क्यों किया गया। वस्तुतः इन्द्रियाँ माध्यम मात्र हैं। देखती आँखें हैं किन्तु निर्णय मस्तिष्क देता है। आँखें नहीं देखतीं, आँखों के पीछे से मस्तिष्क देखता है। कान कुछ श्रवण करता है; किन्तु श्रवण का वास्तविक स्थल मस्तिष्क है, यही इन्द्रियों का निर्णायक है, यह अन्तःकरण है। इसी को हृदय कहा गया है। हृदय का अर्थ फेफड़े में स्थित धड़कने वाले अंग-विशेष से न लें। गीता में है, **'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।' (१५/७)** मनसहित छः इन्द्रियों की चर्चा है। इसी छठीं इन्द्रिय को अन्तःकरण, मन या हृदय कहा गया है। इसी पन्द्रहवें श्लोक की व्याख्या में आगे है, ''बच्चे में आपका लगाव है तो वस्तुतः लगाव का केन्द्र आपका हृदय है जो बच्चे में जाकर मूर्त होता है।'' गीता में हृदय इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है- **सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो (१५/१५)** इस प्रकार इन्द्रियाँ छः हैं जिनमें हृदय भी है, वही इन पाँचों इन्द्रियों का प्रेरक, संचालक है। भगवान् इन सबके ईश हैं इसीलिए हृषीकेश कहे गये। वैद्यजी इस दृष्टिकोण से देखेंगे तो उन्हे अपना अभीप्सित अर्थ परिलक्षित हो जायेगा।

छठें बिन्दु में आप कहते हैं, **'कुलधर्मा सनातनाः' (१/४०)** में सनातन शब्द कुल-धर्म का विशेषण है, Predicate नहीं। महोदय! संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, विशेषण-जैसे शब्दों की ढाल बनाकर सत्य से कब तक मुँह छिपायेंगे? जिस सनातन कुलधर्म के लिये, शाश्वत जाति-धर्म के लिए अर्जुन विकल था, भगवान् ने उसे अज्ञान कह दिया। अर्जुन ने निवेदन किया, भगवन्! फिर सनातन क्या है? भगवान् ने बताया, यह आत्मा अच्छेद्य है, अदाह्य है, अक्लेद्य है, अशोच्य, सर्वव्यापक, अचल, स्थिर रहनेवाला और सनातन है। भगवान् ने बताया कि शाश्वत, सनातन जैसे शब्द केवल आत्मा, परमात्मा या ब्रह्म के लिये प्रयुक्त होते हैं। जाति और कुल के लिये इनका प्रयोग कदापि उचित नहीं है चाहे वह विशेषण हो या क्रिया अथवा कर्म कारक में ही उसका प्रयोग क्यों न हुआ हो।

अध्याय २/१८ में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा कि शरीर नाशवान् है। आज शरीर है तो कल परिवर्तन। शरीर बदला तो दूसरे ही माता-पिता, दूसरी ही इज्जत-प्रतिष्ठा। अतः कुलधर्म या जाति-धर्म कहाँ से सनातन हो गया?

प्रश्न उठता है कि शरीर की शृंखला में कौन-कौन आते हैं? अध्याय ८ में भगवान् कहते हैं-

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः।। (गीता, ८/१५)

अर्थात् मुझे प्राप्त कर वे दुःखों की खान क्षणभंगुर पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होते। इस क्षणभंगुरता की सीमा में कौन-कौन आते हैं? इस पर वे कहते हैं-

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।। (गीता, ८/१६)

अर्जुन! स्वयं सृष्टि के रचयिता विधाता और उनसे उत्पन्न यावन्मात्र जगत् पुनरावर्ती स्वभाववाला है, आज है तो कल नहीं रहेगा, तो शरीरों के लिये दी गई व्यवस्था जाति और कुल ही सनातन कैसे? इसीलिये भगवान् ने कहा, तुझे यह अज्ञान कहाँ से उत्पन्न हो गया? अर्जुन तो **'जातिधर्माः कुलधर्माः'** इन व्यवस्थाओं को धर्म कह रहा था। धर्म कह देने से कुछ भी धर्म नहीं हो जाता। इसी कुरीति की देन है कि आज देवी-पूजा धर्म, देव-पूजा धर्म, भूत-पूजा धर्म, प्रेत-पूजा धर्म, कपड़ा पहनना धर्म, खाना धर्म, लहसुन खा लिया तो अधर्म, पानी पी लिया तो अधर्म, किसी को छू लिया तो अधर्म। महाभारत को लोक-जीवन से बहिष्कृत करने तथा गीता शास्त्र पर प्रतिबन्ध लगाने का परिणाम यह हुआ कि धर्म के नाम पर इतनी भ्रान्तियों ने प्रवेश पा लिया कि लोग दो घूँट पानी और दो ग्रास चावल से नष्ट होने लगे। जीवधारी मारने से मरते हैं और आज धर्म इतना जर्जर कि छूने-खाने से नष्ट होने लगा। संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वानों के पास आज तक जो धर्म की तालिका थी नष्ट हो गई- सबने सबको छू लिया, खा लिया। जिन्हें पढ़ने का अधिकार नहीं था, पढ़ रहे हैं, सुव्यवस्थित जीवन जी रहे हैं। नवीन संविधान के लागू होते ही स्मृतियों की व्यवस्थाएँ प्रभावशून्य कर दी गईं। अब आपके पास धर्म के नाम पर क्या है? भगवान् श्रीकृष्णोक्त शास्त्र की अनदेखी कर आप सुख, शान्ति और समृद्धि के किस स्रोत की तलाश में हैं? जाति और कुल की परम्परायें रखिये। यह हमारे पूर्वजों की गौरव-गाथाएँ हैं, पूर्वजों के कीर्तिमान हैं; किन्तु इसे शाश्वत धर्म, सनातन धर्म की संज्ञा देकर भ्रान्ति न पैदा करें।

विद्वज्जनों को विचार करना चाहिए कि विश्व की आदिभाषा संस्कृत, देववाणी का गौरव पानेवाली संस्कृत, भगवान् जिस भाषा में सर्वप्रथम बोले वह संस्कृत जिसका आज भी कम्प्यूटर जगत् में वर्चस्व है, मृत भाषा कही जाती है। अन्य विषयों के विद्यार्थी विश्वविद्यालयीय शिक्षा के दौरान कैम्पस सेलेक्शन में उच्च पदों पर नियुक्त हो रहे हैं; किन्तु संस्कृत विभाग में कोई कैम्पस सेलेक्शन के लिए नहीं पहुँचा। संस्कृत पढ़ाने के लिए जितने गुरुजन हैं उतने भी विद्यार्थी नहीं हैं। छात्रवृत्ति, निःशुल्क आवास इत्यादि की सुविधा मिलने पर भी इस देवभाषा को कोई पढ़ना नहीं चाहता। हमने एक गुरुजी से पूछा, ''आपकी संस्था में बच्चे कम हैं, क्यों? संस्कृत सबको पढ़ने का अधिकार नहीं है क्या?'' उन्होंने बताया, ''महाराज! अब तो सभी जातियाँ पढ़ रही हैं; किन्तु शूद्र वेद नहीं पढ़ सकता।'' एक प्रतिबन्ध लगा ही दिया। इन नियमों से ब्राह्मण समाज की बड़ी बदनामी हुई है। भारत भर में इसकी तीखी प्रतिक्रिया है। अस्तु, निवेदन है कि भारत के हित के लिये, संगठन की रक्षा के लिये और वृद्धावस्था में अपने कल्याण के लिये परमात्मा के श्रीमुख की वाणी और उसके भाष्य 'यथार्थ गीता' की ज्यों-की-त्यों तीन आवृत्ति करें। यह संघ आपका आभारी रहेगा, यह भारत आपका आभारी रहेगा, विश्व आपका आभारी रहेगा; क्योंकि यह विश्व-दर्शन है।

सप्तम बिन्दु में माननीय ने **'कौमारं यौवनं जरा' (गीता, २/१३)** को देह की अवस्था मानकर जानना चाहा है कि 'यथार्थ गीता' भाष्य में इसे जीवात्मा की अवस्था कैसे लिख दिया गया है? यह देह की अवस्था है या देही की? इस दार्शनिक विवाद में न पड़कर हम भगवान् श्रीकृष्ण का ही मन्तव्य उन्हें बताना चाहेंगे जो गीता के अध्याय १५ में है- देह में जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है। शरीर में स्थित होकर आँख, कान, त्वचा, जिह्वा, नासिका और मन का आश्रय लेकर यह विषयों का सेवन करता है। शरीर छोड़कर जाते हुए, शरीर में स्थित हुए, विषयों को भोगते हुए अथवा तीनों गुणों से युक्त जीवात्मा को विमूढ़ लोग नहीं जानते, केवल ज्ञानरूपी नेत्रवाले ही उसे जानते हैं। कौन कहता है कि जीवात्मा शरीर में स्थित नहीं होती या विषयों का सेवन नहीं करती? इसीलिए आत्मा अधोगति में भी जाती है और आत्मा का उद्धार भी होता है। हाँ, परमात्मा में स्थिति पा लेने के पश्चात् वह निर्लेप इत्यादि ईश्वरीय गुणधर्मों से युक्त अवश्य होती है।

पत्र के अन्तिम परिच्छेद में वह लिखते हैं कि गीता का तात्पर्य कर्मयोग है। भगवान् ने अर्जुन को कर्म का वह कौशल बताया जिससे कर्म का बन्धन या कर्म का

पाप कर्म करनेवालों को नहीं लगता। आस्थापूर्वक किन्तु अनासक्त होकर सब कर्म करने चाहिये। ध्यान, धारणा, समाधि आदि बातें अच्छी हैं किन्तु गीता का वह तात्पर्य नहीं है।

सब कर्म करने चाहिए तो कुछ भी करें। फिर तो कोई ईसाई या मुसलमान हो जाता है तो राग-द्वेष क्यों करते हैं? कुछ भी करने दें न। सब कर्म करें केवल अनासक्त और समर्पण भाव से ही तो करना है। सबकुछ या कुछ भी कर गुजरने का नाम कर्म नहीं है। फिर आप गीता या महाभारत का नाम ही क्यों लेते हैं? आप शिक्षा ही किस बात की देंगे? अभी एक पुस्तिका 'हिन्दुत्व' देखने को मिली जो सेविका प्रकाशन, मथुरा से प्रकाशित है। इसमें कहा गया है कि ''हिन्दू धर्म का न कोई संस्थापक है न संस्थापना की कोई तिथि ज्ञात है, न कोई ग्रन्थ या एकांगी एकमेव पूजा पद्धति है। धर्म का अर्थ कर्तव्य है। वह उदात्त जीवन मूल्यों से जुड़ा है जैसे मनुस्मृति में है धैर्य, क्षमा, इन्द्रियों का निग्रह, अस्तेय, शौच, सत्य, अक्रोध, बुद्धि, विद्या इत्यादि। सहिष्णुता, उदारता, विविधता में एकता हिन्दुत्व के अन्य विशेष गुण हैं। हर वस्तु में ईश्वर को देखने के कारण हम हरेक का सम्मान करते हैं चाहे वह पशु-पक्षी, पर्वत, नदी, पत्थर हो या झाड़ू जैसी क्षुद्र वस्तु हो। हिन्दुत्व जीने का एक ढंग है। **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** और **'कृण्वन्तु विश्वमार्यम्'** का संकल्प हिन्दू समाज का स्वभाव है। प्रत्येक धर्म का निष्ठावान उपासक कभी न कभी सनातन धर्म में अवश्य आ मिलेगा। हिन्दुत्व का सीमा सम्बन्ध राष्ट्रीयता से है। हिन्दुत्व का अर्थ है एकात्म मानववाद। सर्व समावेशक...........'' आदि आदि। न हमारे पास धर्म की कोई पुस्तक है न पूजा-पद्धति।

आपके संज्ञान में कोई ग्रन्थ न हो, पूजा-पद्धति का संज्ञान न हो सम्भव है किन्तु विश्व को अध्यात्म की शिक्षा देनेवाले जगद्गुरु भारत के पास धर्मग्रन्थ नहीं है या निश्चित पूजा-पद्धति नहीं है, ऐसा कहना उचित नहीं है। उपरोक्त पुस्तिका की मान्यता है कि हिन्दू सहिष्णु हैं, उदार हैं। संसार में कहीं के लोग यहाँ आये, हमारी संस्कृति ने सबको स्वीकार कर लिया, हम महान् हैं। स्वीकार तो तब होता जब आपकी संस्कृति को स्वीकार करते, आपकी जिन्दगी, रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा अपनाते। आपकी गर्दन पकड़कर अपनी संस्कृति उन्होंने आप पर लाद दी। किसी ने कुरान पढ़ाया तो किसी ने बाइबिल। किसी ने नहीं पढ़ा तो गर्दन काट दिया। हजारों-हजारों लोगों ने कई-कई बार पढ़ा और लाखों काट डाले गये फिर भी डींग इतनी कि हमने मिलाया और हम उदार हैं। कहावत है 'निर्बल की लुगाई, सब की

भौजाई।' आक्रान्ताओं ने विवश करके आपकी जमीन पर कब्जा कर लिया, आपके जीवित शरीरों पर कब्जा कर लिया, आपकी मानसिकता पर कब्जा कर लिया। लाखों-लाखों लोगों की हत्यायें, औरतों और गुलामों की बिक्री- इतिहास उठाकर देखें; फिर भी पीठ ठोंकते ही जा रहे हैं कि हम महान्, हम सहिष्णु, हम उदार हैं, जो आये उन्हें हमने शरण दी, जगह दी। वास्तविकता तो यह है कि हिन्दू एक भटका हुआ समुदाय है। यह पक्षी विहार की तरह है, तरह-तरह के पक्षी; किन्तु अपने घोंसले में, अपने झुंड में सीमित। कहने को सभी हिन्दू हैं किन्तु निर्वाचन आते ही यादव यादव में, ब्राह्मण ब्राह्मण में, हरिजन कहीं और। उस समय कोई अपने को हिन्दू नहीं मानता। इसी में कोई साम्प्रदायिक बन जाता है तो कोई धर्म निरपेक्ष। यह फूट, यह बिखराव क्षुद्र प्रलोभन की मानसिकता के कारण है, अन्य कोई कारण नहीं है। विलुप्त परम्पराओं के लिये अकारण आहें भरना कहाँ की बुद्धिमानी है? यह कहना कि शास्त्र कोई नहीं, विधि कोई नहीं, सब कर्म करने चाहिये तो दल बनाकर भोली जनता को क्यों परेशान करते हैं? हम मस्जिद चले जायँ तो हमारा अपराध क्या? जब कोई विधि आपके पास है ही नहीं तो क्यों धर्मान्तरण के पीछे आँसू बहा रहे हैं, जब कुछ भी करना धर्म है? यदि धर्म नहीं जानते हैं तो गीता में भगवान् का आदेश है- **'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।'** किसी महापुरुष की शरण जाकर निष्कपट भाव से सेवा, प्रश्न कर उसे प्राप्त करें। वे तत्त्व के ज्ञाता आपको उस ज्ञान का उपदेश करेंगे। मान्यवर से अनुरोध है कि 'यथार्थ गीता' आद्योपान्त पढ़ लें। शंका समाधान, जीवनादर्श, अनछुए प्रश्न इत्यादि आश्रमीय साहित्य भी देख लें। आप-जैसी विभूतियाँ जब इतनी हताश हो जायेंगी तो हम लोग किसके सहारे जियेंगे। दूर से प्रश्नों के तीर चलाने की क्या आवश्यकता है, आमने-सामने विचार-विमर्शात्मक गोष्ठी कदाचित् अधिक उपयोगी होगी। अच्छा हो, आश्रम पधारें, स्वागत है। इसी आमंत्रण सहित,

थमते थमते थमेंगे आँसू, रोना है कोई हँसी नहीं।

।। ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान् की जय।।

श्रीमद्भगवद्गीता की सर्वगाह्य टीका का औचित्य

(गीता जयन्ती के पावन पर्व पर 11 दिसम्बर, सन् 2005 को पूज्य सन्तों की सभा में महाराजश्री का सन्देश)

पाँच सहस्र से अधिक लम्बे काल से भी पूर्व महायोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण 'साक्षात् परमात्मा' के श्रीमुख से गीता द्वापर में प्रकाशित हुई। उन प्रभु ने कहा, **'इति गुह्यतमं शास्त्रम्' (गीता, १५/२०)-** यह गोपनीय से भी अति गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया है। इसे जानकर तू सम्पूर्ण ज्ञान, लोक में समृद्धि और परमश्रेय को प्राप्त कर लोगे। यही मेरे द्वारा कहा गया धर्मशास्त्र है।

उन्होंने गीता की शिक्षाओं पर चलने के लिए प्रेरित करते हुए कहा कि इस शास्त्र के अतिरिक्त अन्य कोई तरीका भी नहीं है- **'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य' (गीता, १६/२३)-** इस गीताशास्त्र की विधि को त्यागकर अन्य-अन्य विधियों से जो भजते हैं, उनके जीवन में न सुख है, न सिद्धि है और न परमगति ही है अर्थात् क्रिया की अन्य कोई विधि भी नहीं है। **'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते' (गीता, १६/२४)-** इसलिये तुम्हारे कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की व्यवस्था में यह शास्त्र ही प्रमाण है। इसका भली प्रकार आचरण कर, तू मुझे प्राप्त होगा। तुम अमृतमय पद प्राप्त कर लोगे, सदा रहनेवाली शान्ति और समृद्धि प्राप्त कर लोगे।

तात्पर्य यह है कि धर्मशास्त्र गीता द्वापर में मानव-मात्र के लिये प्रकाशित हुई। वैसे, यह धर्मशास्त्र द्वापर से भी बहुत प्राचीन है- सृष्टि का आदि धर्मशास्त्र। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा- अर्जुन! इस अविनाशी योग को मैंने कल्प के आदि में सूर्य से कहा, सूर्य ने इसे ही अपने पुत्र मनु से कहा। मनु ने इक्ष्वाकु से कहा, इक्ष्वाकु से राजर्षियों ने जाना। इस महत्त्वपूर्ण काल से यह योग लुप्त हो गया था। योग अविनाशी है, विनष्ट तो होना नहीं है, मनुष्यों की स्मृति-पटल से ओझल हो गया था- वही मैं तेरे प्रति कहने जा रहा हूँ। प्रारम्भ में भी उन भगवान् ने ही कहा था, आज भी मैं ही कहने जा रहा हूँ। यह परमात्मा के श्रीमुख की वाणी है। सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य के आविर्भाव से भी कुछ पूर्व गीता का आविर्भाव हुआ जो सूर्य से मनु को विरासत में मिली थी। मनु से जायमान सभी मनुष्य हैं। इस प्रकार सृष्टि के आरम्भ से गीता ही सबका आदि धर्मशास्त्र थी।

गीता-ज्ञान मनु को विरासत में मिला था। उन्होंने इसे अपनी स्मृति में धारण किया था। इसे सुरक्षित रखने के लिए उन्होंने स्मृति की परम्परा दी। अतः गीता ही

विशुद्ध मनुस्मृति है। यह विस्मृत हो गयी थी किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा पुनः प्रकाश में आयी। कुछेक प्रश्नों के अनन्तर अर्जुन ने कहा, 'प्रभो! **नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा'**- मेरा मोह नष्ट हो गया, मैं स्मृति को प्राप्त हो गया हूँ। जो सृष्टि के आरम्भ में कही गयी थी, अर्जुन उसी स्मृति को प्राप्त हो गया। उसने कहा, ''मैं आपके आदेशों का पालन करूँगा।'' उसने धनुष उठा लिया, युद्ध हुआ, विजय हुई। एक सम्पूर्ण धर्म-साम्राज्य की स्थापना हो गयी। धर्मात्मा नरेश के रूप में युधिष्ठिर अभिषिक्त हुए और वही धर्मशास्त्र गीता पुनः जन-जन में प्रसारित हो गयी।

भगवान् श्रीकृष्ण के दो-एक हजार वर्ष पश्चात् कालक्रम से पुनः कुछ विकृतियाँ आयीं। शासन-सूत्र तथा सामाजिक व्यवस्थाओं के संचालन के लिए शनैः-शनैः गीता पर कड़े प्रतिबन्ध लगाये गये; क्योंकि गीता के प्रचलन में रहते धर्म के विषय में रूढ़ियों और भ्रान्तियों का सृजन हो ही नहीं सकता था। कहा गया, महाभारत मत पढ़ना अन्यथा घोर महाभारत हो जायगा। मनीषियों ने गीता को महाभारत से अलग निकाल लिया, तो व्यवस्थाकार कहने लगे, 'गीता घर में मत रखना अन्यथा लड़का साधु हो जायेगा। तुम निर्वंशी कहे जाओगे।' समस्त भारतीय समाज को अशिक्षित रखकर गीता और इतिहास से वंचित कर दिया और जीवन-पद्धति को ही धर्म-धर्म कहकर प्रचारित किया गया। भावप्राण जनता जीवन-शैली को धर्म मान बैठी, उसी के अनुसार चलती गयी। शनैः-शनैः गीता पुनः लुप्तप्राय हो चली। आज वही पुरातन योग, आदि धर्मशास्त्र गीता, जो मनु ने स्मृति में धारण किया था, योगेश्वर भगवान् के श्रीमुख से प्रसारित वही गीता आप वरिष्ठ ऋषियों, महर्षियों के मुखारविन्द से पुनः प्रसारित हुई है। सौभाग्य की बात है, स्थली वही है, आप योगेश्वरों द्वारा वह पुनः महिमामण्डित हुई है। यह बड़े गर्व की बात है, आज से हर महापुरुष 'गीता ही धर्मशास्त्र है'- यह उद्घोष करते रहेंगे।

जहाँ तक गीता के बहुमान का प्रश्न है ब्रिटिश शासनकाल में विवेकानन्द जी, योगानन्द, स्वामी रामतीर्थ इत्यादि महापुरुषों की वाणी बार-बार श्रवण कर अंग्रेज शासक इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि गीता इनका धर्मशास्त्र है। इसीलिये वे सेना, पुलिस और न्यायालयों में इस गीता पर हाथ रखवाते और शपथ दिलाते थे। स्वतंत्रता-संग्राम के वरिष्ठ नेता मालवीय जी, लोकमान्य तिलक जी, गाँधी जी तथा आजादी के पश्चात् राजनेतागण पण्डित नेहरू, पटेल जी, राजेन्द्र प्रसाद जी, सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्णन इत्यादि ने गीता की अनुशंसा की। अंग्रेजों द्वारा प्रचलित शपथ खाने की परम्परा को यथावत रखा किन्तु गीता के रहते हुए भी हिन्दुओं का ह्रास रुक नहीं सका। आजादी के उपरान्त भी करोड़ों हिन्दू ईसाई या मुसलमान बन गये। केवल गीता हाथ में रख देने से इस समस्या का समाधान नहीं हुआ। आज भी धर्मशास्त्र के रूप में गीता की अनुशंसा मात्र कर देने से यह मसला कभी हल नहीं होगा।

गीता जन-जन तक भली प्रकार पहुँच जाय, इसके लिए एक प्रसारण विधि चाहिए जिसे पाकर जनजाति, आदिवासी, अनुसूचित, दलित सभी आश्वस्त हो जायँ, सबके सामने पड़ते ही यह उनको अपने हृदय की वस्तु दिखायी पड़ने लगे और वह इसके अनुगामी हो जायँ। सृष्टि में उन्हें पुनः कोई भ्रमित न कर सके, सवर्ण-अवर्ण की दरार पाटते हुए आत्मिक पथ और अस्तित्व का बोध करा सके, सभी एक परमपिता की सन्तान के रूप में सामाजिक समानता के धरातल पर खड़े हो सकें, सभी एक सूत्र में संगठित होकर चलने लगें, एक थाली में खाने लगें, एक पिता की सन्तान के रूप में परस्पर सौहार्द्रपूर्वक रह सकें, भारतीय मूल का कोई कहीं पड़ा हो, उसे एक जैसा बोध दिला सकें और तत्पश्चात् सम्पूर्ण संसार को अपने में दीक्षित कर सकें- गीता के ऐसे बोधगम्य व्याख्या की आवश्यकता है।

गीता पर कई बहुमान्य टीकाएँ हैं, सभी टीकाएँ आदरणीय हैं। ईश्वर-पथ की किसी-न-किसी दूरी को सभी तय कराती हैं; किन्तु जन-जन को एक-जैसा बोध करा दे, एक पंक्ति में सबको बैठा दे, जाति-पाँत, छुआछूत भेदभाव से मुक्त टीका जो सबको हृदयग्राही हो, जो गढ़ी हुई न हो, अतिशयोक्तिपूर्ण न हो, जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण का ही सन्देश ज्यों-का-त्यों दुहराया गया हो, जिसमें परमात्मा तक की दूरी तय करने की सम्पूर्ण साधना का क्रमबद्ध विवरण हो, ऐसे किसी सम्पूर्ण समदर्शी व्याख्या की, प्रसारण-विधि की आवश्यकता है। इसी विधि से सब लोग प्रसारण करें जिससे जन-जन में, झोपड़ी से महलों तक, जंगल और आदिवासी क्षेत्रों में भी एक-जैसा सन्देश सर्वत्र पहुँचे। कोई महात्मा कहीं से बोलें तो एक ही निर्णय प्रसारित करें तो आपकी यह गीता धर्मशास्त्र के रूप में पुनः देदीप्यमान हो उठेगी।

हर्ष का विषय है कि ऐसी बोधगम्य व्याख्या के रूप में 'यथार्थ गीता' उपलब्ध है। इसकी तीन-चार आवृत्ति करने के पश्चात् आप सब सुधीजन अपना बहुमूल्य सुझाव अवश्य दें कि इसमें कहाँ त्रुटि है और हमारी समस्या के समाधान के रूप में, भारत को एक इकाई के रूप में, बच्चे-बच्चे को एक सूत्र में ग्रथित करने के अभियान में यह कहाँ तक उपयोगी है?

अनादि काल से यह गूढ़तर कार्य सन्त-सत्पुरुषों द्वारा ही होता आया है क्योंकि सन्त महापुरुष चलते-फिरते तीर्थराज प्रयाग हैं। वे **'सबहिं सुलभ सब दिन सब देसा'**- देश-विदेश में, वन-प्रान्तर, ग्राम, नगर-शहर सर्वत्र सुलभ हैं। इन्हीं के द्वारा धर्म प्रसारित होता रहा है। इन सन्त विभूतियों ने आज भी यह दायित्व अपने सिर पर लिया है और भविष्य में भी समाज इन्हीं सन्तों से ही आशावान् है। सन्तों की वस्तु उन्हीं को समर्पित करते हुए हम अपनी वाणी को विराम देते हैं।

।। ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान् की जय।।

क्या हिन्दू–धर्म
किसी जीवन–शैली का नाम है?

(भक्तों द्वारा एक पत्र के माध्यम से जिज्ञासा की गई कि क्या हिन्दुत्व किसी जीवन शैली का नाम है? इसी के सन्दर्भ में शक्तेषगढ़ आश्रम की सायंकालीन सभा में दिनांक २५ दिसम्बर, सन् २००५ को महाराजश्री द्वारा दिया गया समाधान)

भारत के सर्वोच्च न्यायालय की संविधान पीठ ने ११ नवम्बर, सन् १९९५ ई. को एक निर्णय में घोषित किया कि हिन्दुत्व भारतीयों की जीवन-शैली है। कतिपय वरिष्ठ राजनेता भी इसी तरह के विचार समय-समय पर व्यक्त करते रहते हैं।

अभी इसी वर्ष (२००५ ई०) में भारत से कुछ लोग जर्मनी पुस्तक मेले में गये थे। उन्हें यह देखकर क्षोभ हुआ कि वहाँ के हवाई अड्डे पर ईसाई, यहूदी, पारसी, इस्लाम इत्यादि धर्मावलम्बियों के लिए पृथक्-पृथक् उपासना-स्थल नियत हैं किन्तु हिन्दुओं के लिए कोई स्थान निर्धारित नहीं था।

सचाई तो यह है कि धर्म को आपके आचार्यों ने बाहर निकलने ही कब दिया था? समुद्र पार करना जिन्होंने प्रतिबन्धित कर रखा हो, उनसे कैसे आशा की जा सकती है कि वे धर्म को विदेशों में जाने की अनुमति देंगे? हिन्दुओं में धर्म के नाम पर जो कुछ भी प्रचलित है उसे विवेकानन्द जी ने जीवन-पद्धति की संज्ञा दी। क्या गलत कहा उन्होंने? यहाँ धर्म के नाम पर जो कुछ भी प्रचलन में है, जीवन-शैली ही तो है। चार वर्णों में बँटा समाज, कौन मन्दिर जाय कौन न जाय? कौन अच्छा खाये कौन नहीं? कौन अच्छे वस्त्र पहने?- यह जीवन-शैली नहीं तो और क्या है?

जीवन-पद्धति देश, काल और परिस्थिति के अनुरूप बदलती ही रहती है, जबकि धर्म अपरिवर्तनशील होता है। एक ओर जीवन-यापन की सांसारिक व्यवस्था और दूसरी ओर परमात्मा में प्रवेश, स्थिति! दोनों की क्या तुलना हो सकती है? किसी जीवन-शैली को धर्म के समकक्ष स्थान देने के लिए आप आहें क्यों भर रहे हैं? जब यह धर्म नहीं है, मात्र जीवन-शैली है तो धर्म से क्यों होड़ लगाते हैं?

धर्म का विशुद्ध रूप तत्सामयिक आचार्यों ने भारतीय जनमानस तक जाने ही नहीं दिया, विदेश की तो बात ही छोड़िये। शासन-सूत्र और सामाजिक व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए महापुरुषों के नाम से स्मृति-ग्रन्थों की रचना करके

जीवन-पद्धति को ही धर्म-धर्म कहकर भावप्राण जनता के समक्ष रखा गया और जनता इस जीवन-पद्धति को ही धर्म समझ बैठी। शिक्षा को प्रतिबन्धित कर व्यवस्थाकारों ने इन स्मृतियों को भी छिपाकर रखा। इनमें लिखा है कि इन स्मृतियों को वही पढ़ सकता है जो गर्भाधान से चिता तक का मन्त्र जानता हो। केवल ब्राह्मण होना इसे पढ़ने के लिए पर्याप्त नहीं है, अधिकांश ब्राह्मण भी इसे नहीं जानते थे।

उन स्मृतियों की व्यवस्था थी कि जाति-पाँति में जीवन-यापन करना धर्म है, उसका उल्लंघन अधर्म है। शूद्र मन्दिर न जाय, शादी-विवाह में भी कमर से ऊपर वस्त्र न पहने। वह गाय का दूध पिये तो नरक जाय। अध्ययन-अध्यापन पर ब्राह्मणों का एकाधिकार, मन्त्रीपद ब्राह्मण को, न्याय ब्राह्मण के परामर्श से.....। छोटे-मोटे न्याय ब्राह्मण ही करेगा, राजा करता है तो नरक जायगा। बड़े मामलों में ब्राह्मण राजा से भी परामर्श कर ले। धर्माध्यक्ष ब्राह्मण! अब रियासतों के ये कानून प्रभावी नहीं रहे, इन्हें माननेवाला कोई नहीं, इन पर चलनेवाला कोई नहीं और इस व्यवस्था पर उँगली उठानेवाले करोड़ों हैं तो इस व्यवस्था को धर्म कहने की भूल का सुधार क्यों न कर लिया जाय?

क्यों न धर्म के विशुद्ध स्वरूप की पहचान की जाय और उसे जन-जन तक, देश-विदेश में प्रसारित किया जाय? इस प्रयास में सर्वप्रथम धर्म को उन धर्माचार्यों से मुक्त कराना होगा जो रूढ़ियों को धर्म कहकर जकड़कर बैठे हैं, जिन्हें वे लम्बे समय से मनुष्यों पर थोपते आये हैं। हिन्दुओं के इतने पतन के बाद आज भी वे उन पर अपना विशेषाधिकार मानते हैं।

धर्म बचा था महापुरुषों के चिन्तन में, जो शान्त एकान्त जंगल में चिन्तनरत थे। उनके हृदय में धर्म तब भी सुरक्षित था, आज भी है। उनसे धर्म की परिभाषा लें, प्रसारित करें। ईसाई, यहूदी और इस्लामिक देशों में भी आपके लिये उतनी ही जगह है। पहले धर्म की परिभाषा प्रसारित तो करें।

धर्म गढ़ना नहीं है, वह तो अपौरुषेय है। धर्मशास्त्र भी परमात्मा के श्रीमुख की वाणी श्रीमद्भगवद्गीता ही है। उसे जन-जन तक पहुँचाना आपका दायित्व है।

गीता की बहुमान्य टीकाएँ समय-समय पर होती रही हैं, सबने विविध दृष्टिकोणों से इस धर्मशास्त्र को देखने का प्रयास किया, सबकी अपनी उपयोगिता है, अपना सौन्दर्य हैं; किन्तु इन सबके होते हुए भी लाखों-करोड़ों हिन्दुओं का धर्मान्तरण रुकने का नाम नहीं ले रहा है। आवश्यकता है गीता के ऐसे भाष्य की जो झोपड़ी से महलों तक सबको एक जैसा आश्वस्त कर सके, जिससे ऊँच-नीच, अमीर-गरीब

सब एक थाली में खाने लगें, एक माँ की सन्तान के रूप में सबको पहचानने लगें। गीता की सहज, सरल व्याख्या जो कृत्रिम न हो, अक्षरशः वही भाव हो जो भगवान् श्रीकृष्ण के थे- ऐसी बोधगम्य व्याख्या के रूप में गीता भाष्य 'यथार्थ गीता' आप सबके अनुशीलन के लिए प्रस्तुत है। उसकी तीन-चार आवृत्ति मात्र से धर्म अपने विशुद्ध स्वरूप में उद्भासित होने लगता है।

धर्म आपको मन, कर्म, वचन से एक परमात्मा के प्रति समर्पण दिलाता है। भली प्रकार समर्पण सधते ही वह परमात्मा आपके अन्तःकरण से जागृत होकर उठाने-बैठाने, मार्गदर्शन करने लगते हैं, सद्गुरु का परिचय देते हैं। सद्गुरु के उपलब्ध होते ही मार्ग प्रशस्त होने लगता है, अन्तःप्रेरणा होने लगती है अन्यथा विश्व भर की जानकारियों का संग्रह करके भी कोई भाषा और बुद्धि-कौशल से धार्मिक निर्णय नहीं दे सकता। महापुरुषों के अभाव में समाज में भगवान् के प्रति श्रद्धा घट जाया करती है। बौद्धिक निर्णयों की देन है कि व्यवस्था, रीति-रिवाज ही धर्म का स्थान ले लेते हैं। सद्गुरुओं के अभाव में समाज नास्तिक हो जाता है। मनुष्य श्रद्धा का पुतला है। विकल होकर यह भगवान् को ढूँढ़ता है। व्यवस्थाकार इन्हें कुछ-न-कुछ पकड़ाते चले जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के समय में भी भारत अनेकानेक कुरीतियों में उलझा था, भगवान् ने उन कुरीतियों का निवारण किया।

ठीक उसी प्रकार आज भारत शास्त्रविहीन भटक रहा है। जब शास्त्र विस्मृत हो गया, तो जिसने जो कह दिया धर्म बन बैठा। करोड़ों भगवान्, करोड़ों मंत्र, करोड़ों पूजा-पद्धतियों में श्रद्धा का पुतला, ऋषियों की संतान भारत भटक रहा है।

आपका सर्वोपरि धर्मशास्त्र गीता है। विश्व का आदि धर्मशास्त्र गीता ही है। मनुष्य के जन्म से भी पूर्व प्रसारित परमात्मा के श्रीमुख की वाणी गीता ही है। यह महाराज मनु को विरासत में मिली थी, जिसको उन्होंने स्मृति में धारण कर लिया इसलिए 'मनुस्मृति' गीता ही है।

गीता के होते हुए समाज में सम्प्रदाय, भ्रान्तियाँ, मत-मतान्तर, ऊँच-नीच, छूत-अछूत, सवर्ण-अवर्ण का गठन हो ही नहीं सकता। यह सब गीता के विस्मृत हो जाने का दुष्परिणाम है क्योंकि गीता के अनुसार हम सभी ईश्वर की सन्तान हैं, उतने ही पावन जितने भगवान्।

गीता के अनुसार एक आत्मा ही शाश्वत है, परम सत्य है, सनातन है। वे ही कण-कण में व्याप्त हैं। वह सर्वत्र से देखते और सुनते हैं। हम-आप संकल्प बाद में करते हैं, वह पहले से जानते हैं। उन एक परमात्मा की शरण जाना, उन्हें अपने

श्रद्धापूरित हृदय में धारण करना धर्म है। जो उनके प्रति आस्थावान् है आस्तिक है, अस्तित्व का उपासक है इसलिये आर्य है।

उन परमात्मा के प्रति समर्पण से साथ उठना-बैठना, प्रत्येक कार्य समर्पण के साथ आरम्भ और सम्पन्न करना आर्यव्रत है, आर्य-संस्कृति है।

उन परमात्मा को देखना, स्पर्श करना, उनमें प्रवेश करना, उनमें स्थिति प्राप्त करना और उनकी समग्र विभूतियों से अवगत होना आर्य-विधि है। यही आर्य-विधि मानव-संहिता गीता है।

ओम् का जप आर्य-विधि की जागृति है। मात्र जीवन-शैली को ही धर्म की संज्ञा देना भयंकर भूल है। इसका सुधार अपेक्षित है। हमारा प्राचीन नाम 'आर्य' था। एक ईश्वर के दर्शन की विधि आर्य-विधि है। कालान्तर में इसका नाम 'सनातन' पड़ा क्योंकि आत्मा शाश्वत है, सनातन है। उसकी प्राप्ति की विधि होने के कारण 'सनातन' कहा गया। **'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।'–** इस जगत्रूपी रात्रि में परमात्मा का क्षीण प्रकाश सदा हृदय में विद्यमान है इसलिये एक नाम 'हिन्दू' पड़ा। तीनों नामों का अर्थ एक ही है। तीनों परम पवित्र हैं। इसका आशय है कि जगत् के अन्धकार में होते हुए भी हृदय-देश में वह परमात्मा सदा विद्यमान है। गीता १३/१७ में है कि वह ज्ञेय ब्रह्म ज्योतियों का भी ज्योति है। तम से अत्यन्त परे पूर्ण ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान द्वारा ही प्राप्त होनेवाला है। सबके हृदय में स्थित है। **'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्'** उसका निवास स्थान हृदय है। हृदयस्थ ईश्वर का उपासक होने से हिन्दू कहलाये। यह शब्द आर्य और सनातन का ही बोधक है। यही आशय गीता के **'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो'** (१५/१५) तथा **'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।'** (१८/६१) में भी द्रष्टव्य है।

।। ॐ श्री सद्‌गुरुदेव भगवान् की जय।।

हिन्दुत्व क्या है?

महोदय,

हिन्दू रिसर्च फाउण्डेशन, मुंबई ने हिन्दू, हिन्दुत्व तथा हिन्दुस्तान जैसे शब्दों की आधुनिक सन्दर्भ में प्रासंगिकता के परिप्रेक्ष्य में लिखा है। उनका आशय है कि सम्प्रति 'हिन्दू' शब्द की उत्पत्ति पर विचार करने में समय बर्बाद न कर हिन्दू-धर्म के प्रचार-प्रसार की बात सोची जाय तो अधिक उपयोगी होगी।

उनका यह सुझाव सार्थक प्रतीत होता है, है नहीं। 'हिन्दू' शब्द को लेकर संस्था बनाना, हिन्दू नाम पर आहें भरना, पश्चाताप करना, आँसू बहाना अलग बात है। प्रश्न है कि हिन्दू-धर्म क्या है, जिसका प्रचार-प्रसार किया जाय? इसके लिए धर्म को मूल रूप में जानना, उद्‌गम से ही उसका साफ-सुथरा परिचय देना होगा।

आश्चर्य होता है कि संस्था का नाम 'हिन्दू रिसर्च फाउण्डेशन' होते हुए भी जब वे 'हिन्दू' शब्द की उत्पत्ति के विषय में सोच नहीं सकते तो रिसर्च कौन-सा करते हैं। मूल तथ्यों से पलायन कोई रिसर्च तो है नहीं।

आंग्ल भाषा में टंकित उनका पत्र पन्द्रह बिन्दुओं में है। विषय को रेखांकित करने के अनन्तर पत्र की आरम्भिक पंक्तियों में उन्होंने ध्यान दिलाया है कि भारत की ८५ प्रतिशत जनता हिन्दू-धर्म स्वीकार करती है। बेशक स्वीकार करती है; किन्तु कब तक कर पायेगी? हाँ, यदि उसे अपना उद्भव और धर्म की व्याख्या मिल जाय तो अवश्य उस पर आरूढ़ रह सकेगी।

द्वितीय बिन्दु में उन्होंने व्यक्त किया है- 'प्रतीत होता है कि आप हिन्दू-धर्म के स्थान पर आर्य-धर्म प्रतिस्थापित करना चाहते हैं।' उनका यह निष्कर्ष भी भ्रमपूर्ण है।

हम सबका आदि धर्मशास्त्र गीता है। मनुष्य बाद में जन्मा, गीता पहले प्रसारित हुई। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा, अर्जुन! इस अविनाशी योग को कल्प के आदि में अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में मैंने सूर्य से कहा। सूर्य ने अपने पुत्र आदि मनु से कहा। मनु महाराज ने इस अविनाशी योग को अपनी स्मृति में धारण कर लिया और स्मृति की परम्परा दी। उन्होंने यही योग अपने पुत्र महाराज इक्ष्वाकु से कहा, इक्ष्वाकु से राजर्षियों ने जाना। इस महत्वपूर्णकाल से यह अविनाशी योग इस पृथ्वी पर से लुप्त हो गया था, मनुष्यों की स्मृति-पटल से ओझल हो गया था, लोग भूल गये थे- वही पुरातन योग, अविनाशी योग मैं तेरे प्रति कहने जा रहा हूँ; क्योंकि

तू प्रिय भक्त है, अनन्य सखा है। अर्जुन ने कुछ तर्क-वितर्क के पश्चात् स्वीकार किया कि **'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत। स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।।'** मोह से उत्पन्न मेरा अज्ञान नष्ट हुआ। गोविन्द! **'स्मृतिर्लब्धा'**- जो मनु महाराज ने स्मृति में धारण किया था, जिस स्मृति की परम्परा दी, मैं उस स्मृति को प्राप्त हुआ हूँ। यह अविनाशी योग मैंने स्मृति में धारण कर लिया। मैं आपके आदेशों का पालन करूँगा। अर्जुन युद्ध के लिये प्रस्तुत हो गया। युद्ध हुआ, विजय हुई, एक धर्मसाम्राज्य की स्थापना हो गई। एक सम्पूर्ण धर्मात्मा नरेश युधिष्ठिर अभिषिक्त हुए और एक ही धर्मशास्त्र गीता पुनः प्रसारण में आ गयी।

गीता के आरम्भ में ही अर्जुन ने कहा, गोविन्द! मैं युद्ध नहीं करूँगा क्योंकि कुलधर्म सनातन है। **'जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः'**- यह जातिधर्म और कुलधर्म ही शाश्वत है। युद्धजनित नरसंहार से पिण्डोदक क्रिया लुप्त हो जायेगी, पितर लोग गिर जायेंगे, वर्णसंकर हो जायेंगे इत्यादि। हमलोग समझदार होकर भी पाप करने को उद्यत हुए हैं। शस्त्रधारी कौरव मुझ शस्त्रविहीन को मार डालें तो मरना श्रेयस्कर है। गोविन्द! मैं युद्ध नहीं करूँगा। यह पाप है- एक धार्मिक भ्रान्ति ने अर्जुन को मौत के मुख में धकेल दिया। गीता के विस्मृत होने का दुष्परिणाम था कि अनेक भ्रान्तियाँ फैल गयीं, जिनमें से एक भ्रान्ति का अनुयायी अर्जुन भी था। जिन कौरवों ने इनके लिए लाक्षागृह का निर्माण कराया, भीम को विष दिया, वनवासकाल में राक्षसों को नियुक्त किया कि ध्यानरत अर्जुन को मार डालो, वे अर्जुन को निःशस्त्र पाकर क्या छोड़ देते? किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, अर्जुन! तुझे यह अज्ञान किस हेतु से उत्पन्न हुआ। यह न कीर्ति करनेवाला है, न कल्याण करनेवाला है और न ही पूर्व महापुरुषों ने भूलकर भी ऐसा आचरण किया। यह **'अनार्यजुष्टम्'**- अनार्यों का आचरण तूने कहाँ से ले लिया। भगवान् ने बहुत समझाया, अर्जुन ने तर्क-वितर्क किया, अन्ततः उसे दृष्टि मिली, भगवान् का दर्शन किया तब कुछ समझ में आया। अस्तु, जाति-पाँति, छुआछूत, भेदभाव, पिण्डोदक क्रिया भगवान् के शब्दों में अज्ञान है, अनार्यों का आचरण है।

आर्य कोई धर्म नहीं, प्रजाति नहीं, एक व्रत है। अस्तित्ववान् अविनाशी एक परमात्मा है। जो उस एक परमात्मा का उपासक है, उसे प्राप्त करने की नियत विधि ा का आचरण करता है, आर्य है। गीता आर्य-संहिता है।

गीता के अनुसार आत्मा ही शाश्वत है, सनातन है। जो सदा हृदय-देश में विद्यमान है। हम शाश्वत, सनातन के पुजारी हैं। गीता सनातन की प्राप्ति की संहिता

है इसलिये भारतीय सनातनधर्मी कहे जाते थे। हम उस हृदयस्थ परमात्मा के पुजारी हैं इसलिये हिन्दू कहे जाते हैं। हृदय में ही उस परमतत्व परमात्मा का निवास है। साधना की सही प्रक्रिया से चलकर जब कभी किसी ने उस परम प्रभु को पाया तो हृदय-देश में प्राप्त किया। संसार एक रात्रि है- **'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।'** जगत्‌रूपी रात्रि में भी वह ईश्वरीय प्रकाश सबके हृदय में एकरस विद्यमान रहता है। रात्रि में तो इन्दु अर्थात् चन्द्रमा ही रहता है। इसलिए हृदि इन्दु स हिन्दू-हृदय में वह चन्द्रमा के सदृश सदा प्रकाशित है। यह जीवनी शक्ति के रूप में सदा प्रवाहित है इसीलिये इसका एक नाम हिन्दू भी है। जब परमात्मा विदित हो जाता है तब पूर्ण प्रकाश है, रात्रि समाप्त हो जाती है। ईश्वरीय आलोक छा जाता है। वहाँ न रात है न दिन। यह आर्यावर्त, सनातनी, हिन्दू अर्थात् हृदयस्थित परमात्मा के व्रती सबका एक ही आशय है। इन नामों का स्मरण कर हम कुछ बदल नहीं रहे हैं, कोई नया नामकरण करने नहीं जा रहे हैं; केवल यह बता रहे हैं कि कालक्रम से ये नाम हमारे ही हैं। हम मूल नाम दे रहे हैं, आपको इतिहास से जोड़ रहे हैं। कालक्रम से भाषायें बदलती गयीं, नाम बदलते गये; किन्तु मूलतः हम वही हैं और हम सबका शास्त्र भी वही 'गीता' ही है।

पत्र के तृतीय बिन्दु में उन्होंने पुनः याद दिलाया है कि पचासी प्रतिशत भारतीय अपने को हिन्दू कहते हैं, संसार उन्हें हिन्दू के रूप में मान्यता देता है। अरब निवासी इस देश को हिन्दुस्तान कहते हैं और आप-जैसे हिन्दू शब्द की उत्पत्ति खोज रहे हैं।

वस्तुतः यह कार्य तो शोध संस्थान का ही था कि अपने गौरवशाली अतीत का भी स्मरण करते। वे तो इतने में ही सन्तुष्ट हैं कि पचासी प्रतिशत भारतीय अपने को हिन्दू कहते हैं। भले ही कहते हों किन्तु सन्तुष्ट कोई नहीं है। विगत दो-तीन सौ वर्षों में करोड़ों हिन्दू सिख के रूप में अपनी अलग पहचान बनाने के लिए आन्दोलन कर रहे हैं, चौबीस करोड़ हिन्दू ईसाई हो गये, तीस-बत्तीस करोड़ मुसलमान बन गये। अम्बेडकर ने कहा था कि मैं हिन्दू जन्मा अवश्य हूँ इसमें मेरा कोई वश नहीं था किन्तु मैं हिन्दू रहकर मरूँगा नहीं। उत्तर प्रदेश और बिहार के हरिजन अपने को बौद्ध लिखने लगे हैं। नागपुर में अम्बेडकर जयन्ती पर दस लाख लोग एकत्रित हुए थे, बौद्धिष्ट बनने हेतु। यदि जाति-पाँति छुआछूत और जातीय विद्वेष का नाम ही हिन्दू धर्म है तो कितने लोग हिन्दू रह जायेंगे? बम्बई के समीप गोवा, असम, नागालैण्ड, अरुणांचल प्रदेश, केरल, कश्मीर इत्यादि राज्यों में हिन्दुओं की संख्या में ह्रास

स्वतंत्रता के पश्चात् हुआ है। जब तक आप धर्म की परिभाषा नहीं देंगे, धर्मशास्त्र के रूप में गीता नहीं देंगे, केवल हिन्दू-हिन्दू कहने से धर्मान्तरण नहीं रुकेगा। हिन्दू आश्वस्त नहीं है। उसे धर्म पर विश्वास दिलाना होगा ताकि वह इस पर टिक सके।

वेदशास्त्र की धमकी देकर, साइनबोर्ड इसका दिखाकर भारत में अलग से एक शास्त्र चलाया जाता था, जिनका नाम था स्मृतियाँ, जैसे- मनुस्मृति, पाराशर स्मृति, देवल स्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति इत्यादि। महापुरुषों के नाम से प्रचारित इन स्मृतियों में है- शूद्र भगवान् का भजन नहीं कर सकता। वह वेदवाक्य पर विचार करने मात्र से नरक में जायेगा। उसे सुनकर स्मरण करता है, मन में दुहराता है, तब भी नरक जायेगा। जिह्वा से वेद का उच्चारण कर दे तो उसकी जिह्वा काट लो। यदि यही है आपका हिन्दू-धर्म, वेद और शास्त्र तो कौन इस व्यवस्था में जीना चाहेगा?

शोध संस्थान वालों ने तर्क दिया है कि दक्षिण भारत के लोग अपने को आर्य नहीं मानते 'द्रविड़' मानते हैं, हिन्दू मानते हैं। आर्य-दर्शन का प्रचार करने से उत्तर-दक्षिण भारतीयों में घृणा पनपेगी। राष्ट्रीय-गान आपको स्मरण ही होगा। पंजाब, सिन्धु, गुजरात, मराठा, द्राविड़, उत्कल, बंग। विन्ध्य, हिमाचल.....। ये भू-भाग के नाम हैं। एक श्लोक निरन्तर पढ़ने में आता है-

जम्बूद्वीपे, भारतखण्डे आर्यावर्ते............

जम्बू एक द्वीप है, जिसमें भारत एक खण्ड है, जिसमें आर्यव्रती लोग निवास करते हैं। आर्य एक व्रत है, किसी भू-भाग का नाम नहीं। भारत के प्रान्तों के नाम हैं- द्राविड़, गुजरात, मराठा आदि। आर्य कोई भू-खण्ड नहीं वरन् एक व्रत है, गुणवाचक है। आर्य कोई प्रजाति है, यह विष-वमन तो अंग्रेजों का कुप्रचार है। प्राचीन आर्षग्रन्थों में 'आर्य' शब्द की व्याख्या पर्याप्त है। भगवान् बाल्मीकि, भगवान् बुद्ध की वाणी में, भगवान् महावीर और भगवान् व्यास की वाणी में 'आर्य' शब्द पर प्रचुर प्रकाश डाला गया है। इनमें से किसी का उदाहरण न देकर आर्यों के विषय में अंग्रेजों ने क्या कहा? मैक्समूलर ने मध्येशिया, तो किसी ने काकेशस पर्वत को उनका मूल निवास बताया; क्योंकि वहाँ संस्कृत भाषा के दो-चार शब्द मिले हैं। क्या यह सम्भव है कि आर्य जब भारत आने लगे, मूल निवास से सब कुछ अपने साथ बाँध लाये और वहाँ संस्कृत के दो-चार शब्द ही छोड़ा? एक भी वेद उन पूर्वजों के गाँव में नहीं छोड़ा? आर्य और अनार्यों में फूट डालकर राज्य करो, अंग्रेजों की दुरभिसन्धि थी, जिसका शिकार आंग्लभाषी विश्वविद्यालयों के छात्र हुए। यदि छात्र यही सब न लिखें तो उत्तीर्ण कैसे होते? ब्रिटिश प्रशासन के अन्तर्गत लार्ड मैकाले

की कुत्सित शिक्षा योजना का परिणाम आर्य और अनार्यों का विभाजन है। आर्यों की विशुद्ध परिभाषा आश्रमीय साहित्य 'यथार्थ गीता', 'शंका समाधान', 'जीवनादर्श एवं आत्मानुभूति' इत्यादि पुस्तकों में द्रष्टव्य है। दक्षिण भारतीय भी आर्य ही हैं। अंगद आर्य थे, विभीषण आर्य थे, रावण के पिताश्री भी आर्य ही थे। आरम्भिक आर्य सूर्य, चन्द्र, कुबेर, वरुण इत्यादि थे। भगवान् श्रीकृष्ण आर्य थे। आर्य एक व्रत है, जो अस्तित्व एकमात्र परमात्मा के प्रति आस्थावान् है, आर्य है न कि कोई प्रजाति या धर्म। धर्म तो साधना का नाम है, साधना को धारण करना धर्म है।

शोध संस्थान को सन्तोष है कि अरबवाले इस देश को हिन्दुस्तान तो कहते हैं। मुसलमान हिन्दुओं को काफिर भी कहते हैं, नास्तिक मानते हैं, पापी मानते हैं और हिन्दुस्तान को पाक करने के षड्यन्त्र करते ही रहे हैं, कभी जनेऊ जलाया गया, चोटी काटी गयी तो कभी जजिया कर लगाया गया। उस युग में तीन विभूतियाँ ऐसी निकल आयीं, जिन्होंने हिन्दुओं को समूल नष्ट होने से बचा लिया। वह थे- महाराणा प्रताप, गुरु गोविन्द सिंह जी और छत्रपति शिवाजी। इन तीनों ने ही हिन्दुओं की दकियानूसी परम्परा का पालन नहीं किया। महाराणा प्रताप ने कोल-भीलों को शस्त्र पकड़ा दिया, इन्हीं में रहे, साथ भोजन किया, उन्हें सम्मान दिया। 'महाराष्ट्र में जो जन्मा है, मराठा है'- कहकर शिवाजी ने सबको शस्त्र पकड़ा दिया। गुरु गोविन्द सिंह जी ने शिष्यों को शस्त्र धारण कराया, कहा, 'सभी सिंह हैं'। कर्मकाण्डी लोग पीछा करते ही रह गये। इन महापुरुषों ने उन्हें भगा दिया। सबके साथ खाना-पीना, रहना उनका हिन्दू-धर्म था। आर्य शब्द को विकृत करने के प्रयास हुए हैं, इसीलिये लोगों में इस शब्द से भ्रान्ति है। दयानन्द जी ने भी इसकी उत्पत्ति तथा प्राचीन ग्रन्थों में इस शब्द की व्याख्या पर ध्यान नहीं दिया। जब उन्होंने वेद को शास्त्र कहा, तो लोगों ने स्मृति को शास्त्र बताया। अब मूलस्मृति के रूप में गीता आ गयी तो कहते हैं वेद शास्त्र है? दयानन्द जी को मुसलमानों ने नष्ट नहीं किया, ईसाइयों ने नहीं किया इन्हीं हिन्दुओं ने किया। दयानन्द जी 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श ही दे रहे थे। किन्तु विश्व में फूट डालनेवालों ने ही उन्हें हर बार विष द्वारा मारने का प्रयास किया; अतः वेद धर्म है, शास्त्र धर्म है- एक ढाल मात्र है। इनका नाम लेने से लोगों की श्रद्धा झुक जाती है। जाल फेंककर चना दिखाकर बन्दर पकड़ने जैसी गर्हित कला है।

शोध संस्थान को गर्व है कि विदेशी लोग भारतीयों का हिन्दूरूप में आदर करते हैं। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। नेताजी सुभाष चन्द्र बोस, हिटलर और मुसोलिनी से भारत की स्वतन्त्रता के लिये सहयोग चाहते थे। उनका (हिटलर आदि

का) विचार था कि भारत कभी आजाद हो ही नहीं सकता। भारतीय अपना शासन स्वयं करने में सक्षम नहीं हैं। भारत जातियों, उपजातियों, विविध धर्मों और भाषाओं में, भाई-भतीजावाद, पक्षपात, जातीय विद्वेष में इतना उलझा हुआ है कि आगामी दो सौ वर्षों में भी अपना शासन स्वयं चलाने योग्य नहीं हो सकता। सर्पों को बीन बजाकर या बन्दर को डुगडुगी बजाकर नचाने के अतिरिक्त भारतीय कर ही क्या सकते हैं? छुआछूत, भेदभाव के कारण भारतीयों को विदेशों में जाहिलों, मूर्खों का समाज समझा जाता है।

नवम बिन्दु में संस्थान के संचालक महोदय का मानना है कि ''हिन्दू शब्द पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण भारतीयों को एकता के सूत्र में बाँधे हुए है।'' विचार करें, केरल में कितने हिन्दू शेष हैं? वहाँ के ८५ प्रतिशत हिन्दू ईसाई हो गये। कहीं कोई पंडित चन्दन लगाकर निकलता है तो बच्चे ताली बजाने लगते हैं? कौन कहता है इस शब्द से सभी खुश हैं? यदि खुश ही थे तो ईसाई क्यों बन गये? क्यों बनते जा रहे हैं? जब तक धर्म की सही परिभाषा न दी जाय, बिना परिचय के कोई गर्व कैसे करेगा?

ग्यारहवाँ बिन्दु भी विचारणीय है कि पूर्वज अपने को हिन्दू कहते थे। भाषा, इतिहास और गीता पर प्रतिबन्ध लग जाने से यह 'हिन्दू' नामकरण विस्मृत हो चला था। हिन्दू शब्द दस-ग्यारह सौ वर्षों से ही पुनः प्रचलन में है। अभी पुष्यमित्र शुंग के समय में विभिन्न स्मृतियाँ लिखी गयीं, उनमें भी हिन्दू शब्द का प्रयोग नहीं है। शुंगकाल में वर्णित संस्कृत वर्णमाला, शब्दकोश इस शब्द से अनभिज्ञ है। गीता इस शब्द को अवश्य समर्थन देती है कि ईश्वर हृदय-देश में निवास करता है, सहज प्रकाश छोड़ता ही रहता है। हृदि इन्दु से हिन्दू की उदारवादी व्याख्या आप देख सकते हैं। गीता वेद-शास्त्रों का भी मूल है, वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना से ओतप्रोत है, सम्पूर्ण विश्व का यह आदि धर्मशास्त्र है।

भारत को विश्वगुरु होने का गौरव प्राप्त था, किन्तु मध्यकाल में विश्व से आगन्तुक शिष्यों ने कुएँ में रोटी का टुकड़ा डाल दिया तो गाँव का गाँव मुसलमान हो गया। इस विकृति को जीवित रखने के लिए करोड़ों आचार्य लगे हैं, जिन्हें पुरोहित कहते हैं, जो घर-घर जाकर जन्म-मृत्यु या विवाह के अवसर पर विकृतियों को ही संरक्षण दे रहे हैं- **नमो ब्रह्मण्य देवाय, गो ब्राह्मण हिताय च....** उनके शिकंजे से आप कैसे बचेंगे? अतः धर्म को जानने के लिए, वसुधैव कुटुम्बकम् के आदर्श के लिए आप सभी गीता लें। प्रचार-प्रसार का अन्य कोई वैज्ञानिक उपाय नहीं है।

भगवान् ने स्वयं कहा, अर्जुन! अन्य विधियों से जो भजते हैं, उनके जीवन में न सुख है न समृद्धि है और न परमसिद्धि ही है। **'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ'-** तुम्हारे कर्तव्य-अकर्तव्य की व्यवस्था में यह गीता शास्त्र ही प्रमाण है, क्योंकि जिन प्रभु को धारण करना धर्म है उन्हीं का सन्देश गीता है।

शोध संस्थान को दुःख है कि आज कोई वसुधैव कुटुम्बकम् की बात नहीं करता। यही मान लेते तो विश्वगुरु भारत, संसार का हर मानव शिष्य, तो शिष्यों के छूने, खाने से गुरु जी रसातल में क्यों चले जाते? आधा अरब भारत ही था। अल्ताई पहाड़, हिन्दूकुश, मलाया, जावा, सुमात्रा, सिंहल, चीन, जापान और मिस्र तक भारत ही तो था। आज कैलाश मानसरोवर के लिए भी वीसा पासपोर्ट लेना पड़ता है। यह सिमट क्यों गया? इसकी जड़ में धार्मिक भ्रान्ति है जो करोड़ों में फैली है। आप एक स्थल से शिक्षा देकर इनका दुष्प्रभाव कैसे कुण्ठित कर सकेंगे। आवश्यकता है इन धर्माचार्यों को सही दिशा देने की। उन्हें सत्य प्रसारण की विधि
ा प्रदान करें। उपनिषदों और वेदों का मूल है गीता, सृष्टि का आदिशास्त्र है गीता, पर शोध संस्थान की दृष्टि क्यों नहीं पड़ी?

शोध संस्थान ने अन्त में सुझाव दिया है कि धार्मिक उद्देश्य से गठित संगठनों को राजनीति से पूर्ण विरत रहना चाहिए। धर्म का शुद्ध स्वरूप जिन्हें उपलब्ध है, ऐसे संगठन राजनीति में कभी जा ही नहीं सकते। धर्म उन्हें किसी में फूट डालने का अवकाश ही नहीं देता। यह तो वही कर सकते हैं जो धर्म नहीं जानते। धर्म की दृष्टि में विश्व का मानव-मात्र एक इकाई है। अन्य किसी ग्रह पर अतिरिक्त जनसंख्या है तो उसके लिए भी धर्म में इतनी जगह बनी हुई है। गीता के अनुसार, एक पिता की सन्तान के रूप में वे एक जगह खा-पी सकते हैं, सम्बन्ध भी कर सकते हैं।

संस्थान ने बौद्धिकों का आह्वान किया है कि उदारवादी व्याख्या द्वारा हिन्दू-धर्म के प्रचार-प्रसार में लगें। वस्तुतः बुद्धि के बल पर शास्त्रों को समझने का प्रयास ही गलत है। शास्त्र कोई विरला महापुरुष ही जानता है और उनके संरक्षण में कोई विरला ही अधिकारी पढ़ता है। पचासों भाषा पढ़कर भी शास्त्र के विषय में कोई कुछ नहीं जानता। श्रीकृष्ण कहते हैं, अर्जुन! इस ज्ञान को जानने के लिए तत्त्वदर्शी महापुरुष की शरण में जाओ। रामचरितमानस में है, **'जानहिं यह चरित्र मुनि ग्यानी'-** यह तो महापुरुषों के क्षेत्र की वस्तु है। आप उनसे परामर्श लेते रहेंगे तो कभी भी सन्देह नहीं होगा।

।। ॐ श्री सद्‌गुरुदेव भगवान् की जय।।

श्रीमद्भगवद्गीता भाष्य 'यथार्थ गीता'- एक परिचय

भगवान् श्रीकृष्णोक्त श्रीमद्भगवद्गीता का यथा (ज्यों-का-त्यों) अर्थ होने से इस भाष्य का नाम 'यथार्थ गीता' है। गीता के अनुसार, एक परमात्मा ही सत्य है, उसे पाने की विधि यज्ञ है जिसे चरितार्थ करना ही कर्म (आराधना) है। गीतोक्त युद्ध अन्तःकरण का युद्ध है; क्योंकि यह शरीर ही एक क्षेत्र है, जिसके अन्तराल में सजातीय एवं विजातीय अथवा विद्या एवं अविद्या दो प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं। इन्हीं प्रवृत्तियों का पार पाना ही युद्ध है।

गीतोक्त ज्ञान ही विशुद्ध 'मनुस्मृति'

गीता आदि मानव महाराज मनु से भी पूर्व प्रकट हुई है- **'इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।'** (४/१) अर्जुन! इस अविनाशी योग को मैंने कल्प के आदि में सूर्य से कहा तथा सूर्य ने मनु से कहा। मनु ने उसे श्रवण कर अपनी याददाश्त में धारण किया; क्योंकि श्रवण की गई वस्तु मन की स्मृति में ही रखी जा सकती है। इसी को मनु ने राजा इक्ष्वाकु से कहा। इक्ष्वाकु से राजर्षियों ने जाना और इस महत्वपूर्णकाल से यह अविनाशी योग इसी पृथ्वी में लुप्त हो गया। आरम्भ में कहने और श्रवण करने की परम्परा थी, लिखा भी जा सकता है- ऐसी कल्पना नहीं थी। मनु महाराज ने इसे मानसिक स्मृति में धारण किया तथा स्मृति की परम्परा दी; इसलिये यह गीतोक्त ज्ञान ही विशुद्ध मनुस्मृति है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं, अर्जुन! वही पुरातन योग मैं तेरे प्रति कहने जा रहा हूँ। अन्ततः भगवान् ने पूछा, अर्जुन! क्या तुमने मेरे उपदेश को एकाग्रचित्त हो श्रवण किया। अर्जुन ने कहा, **'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा।'** (१८/७३)- भगवन्! मेरा मोह नष्ट हुआ, मैं स्मृति को प्राप्त हुआ। मैं आपके आदेश का पालन करूँगा। उन्होंने धनुष उठा लिया, विजय प्राप्त की, एक विशुद्ध धर्म-साम्राज्य की स्थापना हुई और एक धर्मशास्त्र के रूप में वही आदि धर्मशास्त्र गीता पुनः प्रसारण में आ गयी।

प्रकाशक :

श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट

न्यू अपोलो एस्टेट, गाला नं 5, मोगरा लेन (रेलवे सबवे के पास)

अंधेरी (पूर्व), मुम्बई – 400069 फोन - (022) 28255300

बेवसाईट : www.yatharthgeeta.com

ई-मेल : contact@yatharthgeeta.com

अनछुये प्रश्न

भूमिका

प्राप्ति वाले महापुरुषों की वाणी का अर्थ पारलौकिक होता है। कोई कितना ही ज्ञानी क्यों न हो परन्तु सांसारिक उपलब्धियों के बल पर उसे नहीं जान सकता क्योंकि चित्त के निरोध के साथ मिलने वाला ईश्वरीय सन्देश लिखने में नहीं आता। वह वाणी का विषय नहीं है, अनिर्वचनीय है। उसे जानने की विधि संकेत मात्र है जो सुनने में अट पटा लगता है, विरोधाभास प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए रामचरित मानस में है -

उमा राम गुन गूढ़, पंडित मुनि पावहिं बिरति।
पावहिं मोह बिमूढ़, जे हरि बिमुख न धर्म रति॥

अर्थात् राम का गुन गूढ़ है। पण्डित अर्थात् जो इसके रहस्य के ज्ञाता हैं, मुनि- जिसकी मनसहित इन्द्रियाँ मौन हो चुकी हैं-वे तो वैराग्य को प्राप्त होते हैं, परमात्मा की सत्यता को जान लेते हैं, संसार की असत्यता को त्याग देते हैं किन्तु जो विशेष रूप से मूढ़ है, हरि के पद से विमुख और धर्म में अनुरक्त नहीं हैं- ऐसे लोग उसी चरित्र से मोह अर्थात् अज्ञान को प्राप्त होते हैं। लेखन एक किन्तु पात्रों की पात्रता दो प्रकार की- एक प्रकाश की ओर, दूसरी अन्धकार की ओर, वे वैसा ही अर्थ ग्रहण करते हैं। इसीलिए गोस्वामी जी ने बताया कि मानस समझने की क्षमता किनमें है-"**यह शुभ चरित जान पै सोई। कृपा राम की जापर होई॥**"

यह रहस्य वही जान पाते हैं जिनके ऊपर राम की प्रत्यक्ष कृपा होती है।

"**यह चरित्र जानहिं मुनि ज्ञानी। जिन्ह रघुबीर चरन रति मानी॥**"

मानस क्या कहता है इसे तो केवल मुनि और ज्ञानी ही जानते हैं। जिनका मन उस अपौरुषेय परमतत्व परमात्मा में अनुरक्त है, जिनकी उन प्रभु में प्रीति है वही इसे समझ पाते हैं। अतः गोष्ठियाँ करने से रामायण समझ में नहीं आती। कदाचित् कोई प्रश्न किसी भक्त के अन्तर्मन में उद्वेलित होता है तो किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष से उसका परामर्श कर लेना चाहिए। इस सन्दर्भ में सबका स्वागत है।

पूज्य गुरुदेव भगवान कहते थे कि अच्छे अधिकारी के यही लक्षण हैं कि उसके हृदय में प्रश्न उभरते रहें किन्तु प्रश्न वहीं पूछना चाहिए, जहाँ उसका समाधान हुआ करता है। जंगल में जाकर कोई वायुयान का पासपोर्ट चाहे तो वहाँ नहीं मिलेगा। वहाँ तो वही घास-पात ही मिलेगा। अतः प्रश्नों के समाधान हेतु किंचित् आयास करें। वह है श्रद्धा और संतो की संगति-

जे श्रद्धा सम्बल रहित, नहिं सन्तन कर साथ।
तिन्ह कहँ मानस अगम अति, जिन्हहिं न प्रिय रघुनाथ॥

फिर वे सन्त महापुरुष ही हृदय से बताने लगेंगे और आप सन्तुष्ट भी हो जायेंगे।

॥ ॐ श्री सद्गुरु भगवान की जय॥

- स्वामी अड़गड़ानन्द

प्रकाशक

श्री परमहंस स्वामी श्री अड़गड़ानन्द जी आश्रम ट्रस्ट

न्यू अपोलो एस्टेट, गाला नं 5, मोगरा लेन (रेलवे सबवे के पास), अंधेरी (पूर्व), मुम्बई - 400069

फोन - (022) 28255300 • ई-मेल - contact@yatharthgeeta.com • वेबसाइट - www.yatharthgeeta.com